समकालीन साहित्य, संस्कृति,
कला और विचार का मासिक

उत्तर प्रदेश

अगस्त–सितम्बर–अक्टूबर–2024, वर्ष 50

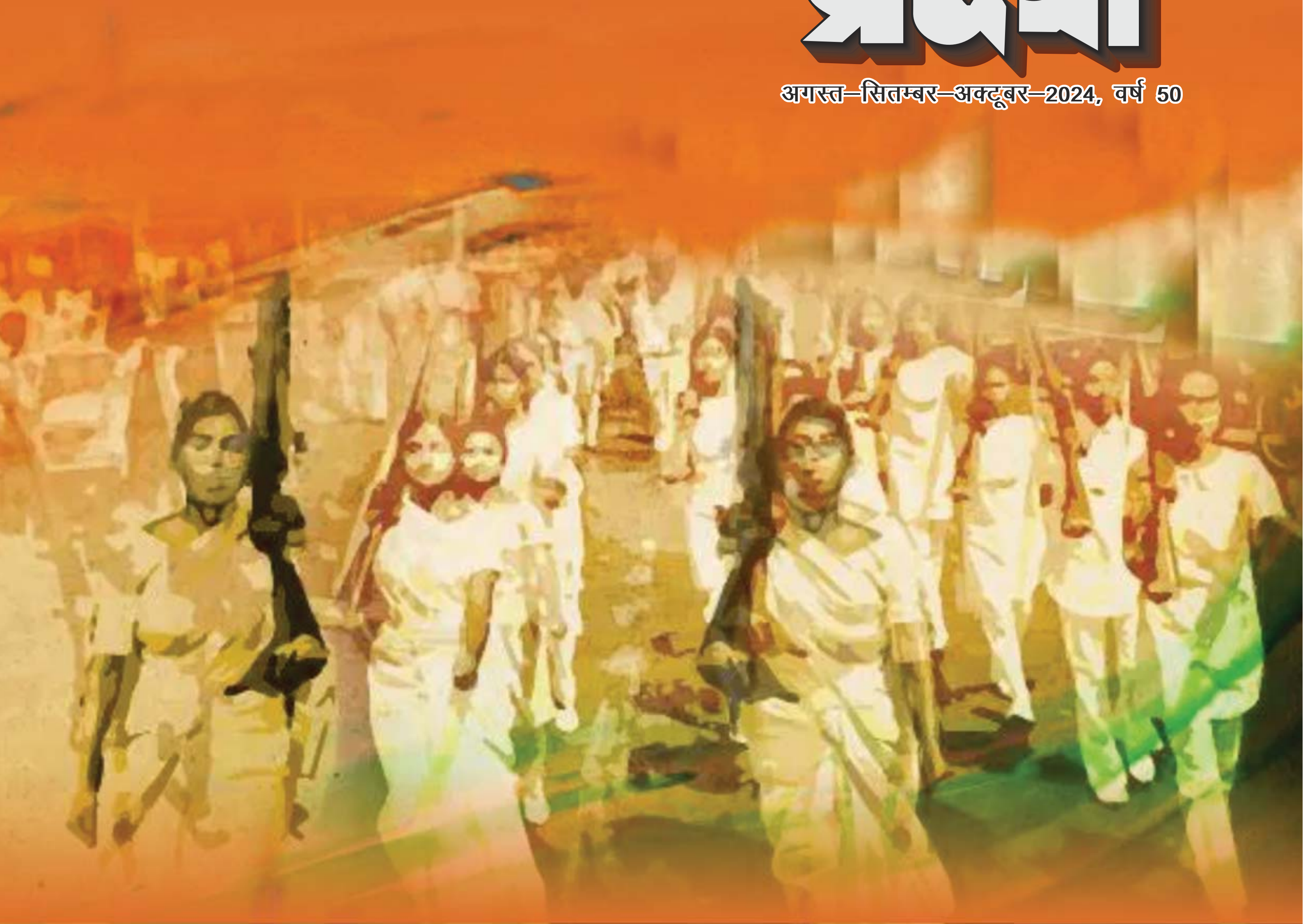

₹ 15/-

अटल बिहारी वाजपेयी की एक कविता

पन्द्रह अगस्त का दिन कहता–आज़ादी अभी अधूरी है
सपने सच होने बाकी हैं, राखी की शपथ न पूरी है।।

जिनकी लाशों पर पग धर कर आज़ादी भारत में आई
वे अब तक हैं खानाबदोश ग़म की काली बदली छाई।।

कलकत्ते के फुटपाथों पर जो आंधी–पानी सहते हैं
उनसे पूछो, पन्द्रह अगस्त के बारे में क्या कहते हैं।।
हिन्दू के नाते उनका दुःख सुनते यदि तुम्हें लाज आती
तो सीमा के उस पार चलो सभ्यता जहाँ कुचली जाती।।

इंसान जहाँ बेचा जाता, ईमान खरीदा जाता है
इस्लाम सिसकियाँ भरता है, डालर मन में मुस्काता है।।

भूखों को गोली नंगों को हथियार पिन्हाए जाते हैं
सूखे कण्ठों से जेहादी नारे लगवाए जाते हैं।।
लाहौर, कराची, ढाका पर मातम की है काली छाया
पख़्तूनों पर, गिलगित पर है ग़मगीन गुलामी का साया।।

बस इसीलिए तो कहता हूँ आज़ादी अभी अधूरी है
कैसे उल्लास मनाऊँ मैं? थोड़े दिन की मजबूरी है।।
दिन दूर नहीं खंडित भारत को पुनः अखंड बनाएँगे
गिलगित से गारो पर्वत तक आज़ादी पर्व मनाएँगे।।

उस स्वर्ण दिवस के लिए आज से कमर कसें बलिदान करें
जो पाया उसमें खो न जाएं, जो खोया उसका ध्यान करें।।

◆

अटल बिहारी वाजपेयी
(पूर्व प्रधानमंत्री)

उत्तर प्रदेश

❑ वर्ष 49 ❑ अंक 66, 67, 68
❑ अगस्त–सितम्बर–अक्टूबर, 2024

अनुक्रम

इतिहास
- 1857 : लखनऊ और आसपास : जन–जन.... ❑ राजगोपाल सिंह वर्मा / 3
- 1857 की जन क्रांति से हमें क्या मिला? ❑ कुमकुम शर्मा / 9
- चिनहट, लखनऊ, 30 जून 1857 : संघर्ष की गौरव गाथा ❑ दिनेश कुमार गुप्ता / 15
- इलाहाबाद की पत्रकारिता और स्वाधीनता संग्राम ❑ उर्वशी उपाध्याय / 19

पड़ताल
- राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका ❑ तबस्सुम खान / 22

भूले बिसरे लोग
- ज़रा याद इन्हें भी कर लो ❑ डॉ. सुयश मिश्रा / 25

नमन
- महान वीर बलिदानी बालक खुदीराम बोस ❑ गौरीशंकर वैश्य / 29
- भगतसिंह का हिन्दी प्रेम ❑ चित्रलेखा वर्मा / 31

पुस्तक चर्चा
- अंधायुग : मिथ और यथार्थ ❑ गौरी त्रिपाठी / 33

कहानी
- खोज ❑ आशा पांडेय / 42
- खबरदार जो लड़की कहा ❑ सियाराम पांडेय 'शांत' / 45
- मुट्ठी भर आसमान ❑ मीनाक्षी सिंह / 48

कविताएँ
- अटल बिहारी वाजपेयी की एक कविता ❑ आवरण–2
- सोहनलाल द्विवेदी का खादी गीत ❑ आवरण–3
- रेनू सैनी की एक कविता / 52
- जोखूराम की एक कविता / 53
- रविन्द्र सिंह पंवार की एक कविता / 54
- नमिता सचान की चार कविताएँ / 55
- महेश केशरी की एक कविता / 58
- विजय सिंह की कविता / 60

पुस्तक समीक्षा
- कल्पना के वैभव को नकारती ग़ज़लें ❑ धन सिंह मेहता 'अनजान' / 61
- बच्चे जब कोई नाटक लिखते हैं, तो... ❑ अनिल मिश्रा ' गुरु जी' / 63

लघु कथा
- कवच ❑ प्रगति त्रिपाठी / 64

संरक्षक एवं मार्गदर्शक : ❑ **संजय प्रसाद**
प्रमुख सचिव, सूचना

प्रकाशक एवं स्वत्वाधिकारी : ❑ **शिशिर**
सूचना निदेशक, उत्तर प्रदेश

सम्पादकीय परामर्श : ❑ **अंशुमान राम त्रिपाठी**
अपर निदेशक, सूचना
❑ **डॉ. मधु ताम्बे**
उपनिदेशक, सूचना
❑ **डॉ. जितेन्द्र प्रताप सिंह**
सहा. निदेशक, सूचना

प्रभारी सम्पादक : ❑ **दिनेश कुमार गुप्ता**
उपसम्पादक, सूचना

सम्पादकीय सहयोग : ❑ **कुमकुम शर्मा**
भीतरी रेखांकन : **आस्था**

सम्पादकीय संपर्क : सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, पं. दीनदयाल उपाध्याय सूचना परिसर, पार्क रोड, लखनऊ
मो. : 7705800978, 9412674759
ईमेल : upmasik@gmail.com

दूरभाष : कार्यालय : ई.पी.ए.बी.एक्स 0522–2239132–33, 2236198, 2239011

पत्रिका information.up.nic.in वेबसाइट पर उपलब्ध है।

❑ **एक प्रति का मूल्य** : पंद्रह रुपये
❑ **वार्षिक सदस्यता** : एक सौ अस्सी रुपये
❑ **द्विवार्षिक सदस्यता** : तीन सौ साठ रुपये
❑ **त्रैवार्षिक सदस्यता** : पांच सौ चालीस रुपये

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे मासिक पत्रिका 'उत्तर प्रदेश' और सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उ.प्र. लखनऊ का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
—सम्पादक

आवर्तन

बस इसीलिए तो कहता हूँ आज़ादी अभी अधूरी है
कैसे उल्लास मनाऊँ मैं? थोड़े दिन की मजबूरी है।।
दिन दूर नहीं खंडित भारत को पुनः अखंड बनाएंगे
गिलगित से गारो पर्वत तक आज़ादी पर्व मनाएंगे।।
उस स्वर्ण दिवस के लिए आज से कमर कसें बलिदान करें
जो पाया उसमें खो न जाएं, जो खोया उसका ध्यान करें।।

–अटल बिहारी वाजपेयी

स्वाधीनता आन्दोलन को समझने के लिए अटल जी की यह कविता काफी है। उनके अनुसार आज़ादी अमूल्य है असंख्य देश प्रेमियों के बलिदान का परिणाम है आज़ादी। जिसकी खुशी में हमें खो नहीं जाना है बल्कि इसको पाने के लिए हमने जिनको खोया है उनको सदैव याद रखना हम सबकी ज़िम्मेदारी है। अखिल भारतीय बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस कमेटी को सम्बोधित करते हुए 8 अगस्त, सन् 1942 को गांधी जी ने कहा था, ''मैं तुम्हें एक छोटा–सा मंत्र देता हूँ। इसे अपने हृदय में अंकित कर लो और अपनी प्रत्येक साँस में इसे व्यक्त करो। मंत्र है, ''करो या मरो''। हम भारत को स्वतन्त्र करेंगे या इस प्रयास में मरेंगे, हम अपनी गुलामी को कायम होते देखने के लिए जीवित नहीं रहेंगे। प्रत्येक सच्चा कांग्रेस पुरुष या महिला इस संघर्ष में इस अटल निश्चय के साथ शामिल होगा कि वह देश को गुलामी और बंधन में देखने के लिए जीवित नहीं रहेगा। यह तुम्हारी प्रतिज्ञा हो। जेलों को अपने विचार से दूर रखो। यदि सरकार मुझे स्वतन्त्र रखेगी तो मैं सरकार पर उस समय बड़ी संख्या में कैदियों को रखने का दवाब नहीं डालूंगा, जब वह संकट में हों। प्रत्येक पुरुष और महिला अपने जीवन का प्रत्येक क्षण इस चेतना के साथ जीए कि वह स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए खाता या जीता है और यदि आवश्यकता पड़ी तो उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मर भी जायेगा।''

यही वह सबसे प्रभावशाली आन्दोलन था जिसे 'भारत छोड़ो' आन्दोलन कहा गया। महात्मा गांधी के 'करो या मरो' के नारे के साथ इस आन्दोलन की शुरुआत हुई। अगले ही दिन यानी 9 अगस्त को सैकड़ों लोग जेल गए। भारत छोड़ो आन्दोलन अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ एक सशक्त आन्दोलन साबित हुआ जिससे अंग्रेजी शासन की नींद उड़ गई थी। इस आन्दोलन में गांधी जी के आह्वान पर देश भर से लोग शामिल हुए। 8 अगस्त को पास हुआ यह अगस्त क्रान्ति का प्रस्ताव दुनिया की सबसे बड़ी अहिंसक जनक्रान्ति में परिवर्तित हो गया। इसी आन्दोलन से राम मनोहर लोहिया, जे.पी. नारायण, अरुणा आसिफ अली, बीजू पटनायक, सुचेता कृपलानी आदि नेताओं ने भूमिगत गतिविधियों को अंजाम दिया जो बाद में प्रमुख नेताओं के रूप में जाने गए। इस दौरान एकता और भाईचारे का ऐसा सार्थक माहौल बना कि अंग्रेजों के साथ भारत की राजनीतिक वार्ता की प्रकृति ही बदल गई और अन्ततः भारत की स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इस अंक में हमने इसी भारत छोड़ो आन्दोलन से जुड़ी हुई कुछ विशिष्ट सामग्री देने का प्रयास किया है। और अन्त में 14–सितम्बर को मनाये जाने वाले हिन्दी दिवस के लिए हमारे सभी पाठकों को बधाई, शुभकामनाएं, अक्टूबर माह में भारत के दिग्गज उद्योगपति रतन टाटा हमारे बीच नहीं रहे, उन्होंने भारतीय उद्योग को संपूर्ण विश्व में एक नई पहचान दी। उन्हें 'उत्तर प्रदेश' पत्रिका के परिवार की ओर से अघ्रपूरित श्रद्धांजलि। हमारा अंक आपको कैसा लगा अवश्य बताइयेगा। जिन अमर शहीदों के कारण आज हम आज़ाद भारत में सांस ले रहे हैं उन्हें शत–शत नमन।

सम्पादक

1857 : लखनऊ और उसके आसपास के जन-जन के संघर्ष की दास्तान

❑ राजगोपाल सिंह वर्मा

हालांकि अवध में, लखनऊ में क्रांति की ज्वाला देर से पहुंची, पर यह भी सही है कि यहाँ सुगबुगाहट मेरठ से पहले ही होने लगी थी। फिर जब बगावत की परिस्थितियाँ बनीं तो अवध ने ही देर तक इस मशाल को जलाए रखा, मेरठ, दिल्ली या अन्य किसी शहर की बनिस्पत। जब अवध के लोगों को यह समझ में आया कि सैनिकों ने देश की राजधानी में विद्रोह कर दिया है तब उनके भाई–बंधुओं ने भी अपने–अपने स्टेशन (छावनी) पर विद्रोह का झंडा बुलंद कर दिया। धीरे–धीरे सभी वर्गों के लोग अपने भेदभाव भुलाकर साथ आ जुटे। बगावत और उसे रोकने की कार्रवाइयों के खराब समाचार मिल रही थे। यह बताया जा रहा था कि जगह–जगह नरसंहार हो रहे थे, जिसमें मुख्य रूप से ब्रिटिश अफसर और उनके परिवारों के लोग निशाने पर थे। स्थानीय लोगों द्वारा संपत्तियों को नष्ट करने, लूटने और चुराने के समाचार आम थे। ऐसा लगता था कि कानून और व्यवस्था की कोई मशीनरी काम नहीं कर रही थी। सब जगहों पर अराजकता का बोलबाला हो चला था।

34/37

इस अराजकता ने विशेष रूप से लखनऊ शहर के लोगों को अपने चंगुल में ले लिया था। पूरा लखनऊ एक गहन उदासी की चादर ओढ़े हुए था। अवध के बादशाह के स्थान पर नई फिरंगी सरकार को अब कोई सहन नहीं कर पा रहा था और देखते ही देखते उनकी व्यवस्थाओं का ढांचा ऐसे गिरा जैसे कोई ताश के पत्तों का महल गिरता है। न उस सरकार में कोई दम था, न उसका इकबाल था, और न कोई स्थिरता। ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग अभी तक नहीं समझ पाए थे कि यह एक जन संघर्ष था, जो विकराल रूप लेने के लिए तैयार हो रहा था, परंतु न जाने अवध के चीफ कमिश्नर सर हेनरी लॉरेंस अभी भी उसमें किस तरह से सैन्य बलों और ताल्लुकेदारों का षड्यंत्र, एक विशेष तरीका और एकरूपता देख रहे थे। पर ऐसा कुछ था नहीं। जो था, वह स्वतः स्फूर्त था।

अवध के चीफ कमिश्नर सर हेनरी लॉरेंस ने आख़िरकार इस प्रांत की सत्ता के ध्वस्त होने पर भारत के तत्कालीन गवर्नर–जनरल को स्थिति की स्वीकारोक्ति के रूप में लिखा था, "इस विद्रोह की हर चीज इतनी करीने और नियमितता से घटित हुई है कि स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों ने भी अपनी–अपनी विशेष जगहें चुन ली हैं, और दिल्ली के बादशाह के राज की पुनर्स्थापना कर दी गई है। हम हर जगह सुनते हैं कि इसी तरीके से, इसी नियमितता के साथ शांत तरीके से, लोगों ने अपने–अपने प्रभाव के क्षेत्रों में नेतृत्व किया है।"

सीतापुर, मोहम्मदी, फैजाबाद, दरियाबाद, सुल्तानपुर, सलोन, गोंडा और बहराइच में भी धीरे धीरे विद्रोही हावी होते चले गए और समाज के हर वर्ग के लोग उनसे जुड़ते रहे। सैन्य बलों के लोग तो विद्रोही रूप अपना ही चुके थे, आम लोग इस बगावत की स्थिति में इन सशस्त्र सैनिकों के सहायक बने।

अवध में बंगाल आर्मी की इकाइयां तैनात थीं जिनमें नियुक्त अधिकतर सिपाही अवध के मूल निवासी थे। कहा तो यहाँ तक कहा जाता था कि कंपनी की बंगाल सेना की पौधशाला अवध ही है। अगर अवध के ये 75 हजार सैनिक उस सेना में अपनी सेवाएं दे रहे होते तो कंपनी का सैन्य बल कितना सिमटा हुआ होता, यह समझना मुश्किल नहीं है। स्थिति यह थी कि व्यावहारिक रूप से अवध के हर किसान परिवार का एक पुरुष सदस्य ईस्ट इंडिया कंपनी का नौकर था। जहाँ इस स्थिति का कुछ आर्थिक और सामाजिक फायदा भी था, वहीं कंपनी के लिए यह बात नुकसानदेह भी हो सकती थी क्योंकि किसी भी बगावत की स्थिति में घर–घर तक बात पहुंचने में कोई देर नहीं लगती थी।

फिलहाल अवध की इस बंगाल आर्मी की स्थिति वैसे भी अच्छी नहीं थी। वे लोग नाराज़ थे। उनके निशाने पर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन था। 47वीं बटालियन के हिंदू सिपाहियों को बैरकपुर से बर्मा के मुल्क में भेजने की कार्यवाही सन 1824 में हुई थी, पर उसका आक्रोश अभी तक भी बना हुआ था। हो भी क्यों न, समुद्र पार करने के बाद उनकी जाति भ्रष्ट होने की बात जो सब जगह फैल गई थी। जिन सैनिकों ने इस तैनाती के लिए इनकार किया उनका हश्र और भी बुरा हुआ। उनके नेताओं को फांसी की सजाएँ दी गईं और पूरी रेजिमेंट को भंग कर दिया गया।

वातावरण में तब इस तरह की खबरें भी फैल रही थीं कि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का वास्तविक उद्देश्य पहले सिपाहियों को भर्ती करना है और फिर कुछ समय बाद में उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित कर लेना है। यह भी कि उनका धर्म भ्रष्ट करने के लिए पहले से ही उनके आटे में मिलावट की गई है। यह तब की बात है जब किसी तरह से समझा–बुझाकर 1857 के आरंभिक महीनों में कलकत्ता में एनफील्ड कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी के मुद्दे को हिंदू और मुस्लिम सैनिकों के विरोध के बावजूद सुलझा लिया गया था। तब वहाँ एक वृहद क्रांति का अल्प ट्रेलर भी चला था।

अवध में तैनात ईस्ट इंडिया कंपनी के नेटिव सैनिकों को उनकी कम तनख़्वाह से भी बड़ी अप्रसन्नता थी। दिक्कत यह थी कि ठीक उसी काम के लिए अँग्रेज सैनिक को अपेक्षाकृत अधिक तनख़्वाह दी जाती थी। इससे अधिकतर सैनिकों में एक रोष की भावना व्याप्त थी। अपने पदभार संभालने के बाद हेनरी लॉरेंस ने तत्कालीन गवर्नर–जनरल को जो पत्र लिखा था उसमें इस मुद्दे को भी उठाया गया था। उन्होंने लिखा था, "सिपाहियों को यह लगता है कि हम लोग उनके बिना काम नहीं चला सकते, और इसके बावजूद एक सिपाही जो प्राप्त करता है वह 50 वर्ष या 70 वर्ष की सेवा के बावजूद अल्प धनराशि है। उसके बच्चों के लिए कोई सुरक्षित या बेहतर भविष्य नहीं है। निश्चित रूप से यह पूर्ण देशी सैनिकों के लिए उनकी इतनी लंबी सेवा के बावजूद किसी अच्छे काम किए जाने और अपनी योग्यता दिखाए जाने का कोई प्रलोभन नहीं हो सकता।"

इसके बावजूद गवर्नर–जनरल अथवा ईस्ट इंडिया कंपनी के नीति निर्धारकों ने अपने चीफ कमिश्नर अथवा अन्यथा से मिली ऐसी सलाहों से कोई सबक लिया हो, यह नहीं लगता। लंबे समय से चले से आ रहे इस पक्षपातपूर्ण और अमानवीय व्यवहार से भारतीय सैनिकों का रोष धीरे–धीरे एक ऐसी स्थिति पर पहुंच गया था जहाँ वे मिल–जुल कर ईस्ट इंडिया कंपनी के उच्च अधिकारियों को

सबक सिखाने के लिए लामबंद हो रहे थे। अब यह स्थिति हो गई थी कि कंपनी द्वारा तैनात विभिन्न क्षेत्रों की सैन्य इकाइयों में आपस में गुप्त पत्र व्यवहार होने लगे थे। हर कोई ईस्ट इंडिया कंपनी की भेदभाव की नीति के विरुद्ध आक्रोश में था और इस आक्रोश को कभी भी हवा मिल सकती थी, यह समझा जा सकता था।

सन 1857 के मध्य अप्रैल में बिठूर के नाना साहेब जो बाजीराव पेशवा द्वितीय के उत्तराधिकारी थे और जिन्होंने कंपनी के राज्य की नीति के कारण अपना बहुत कुछ खो दिया था, एक विश्वस्त साथी अजीमुल्ला खान के साथ लखनऊ आए। उनका उद्देश्य था कि वह बेगम हजरत महल के माध्यम से अवध के ताल्लुकेदारों और धार्मिक नेताओं से संपर्क स्थापित करें। मिर्जा बहादुर बख्त जो भारत के बादशाह बहादुर शाह जफर का पौत्र था, वह भी लखनऊ आकर नाना साहेब से मिला।

लखनऊ में मिर्जा बहादुर बख्त ने एक पर्चा बांटा, जिसका शीर्षक था 'पयामे आजादी', यानी 'स्वतंत्रता का आह्वान'। कहते हैं कि इस पर्चे को मुद्रित कराने के लिए ज़रूरी धनराशि नाना साहेब ने उपलब्ध कराई थी और इसे प्रकाशित करने की ज़िम्मेदारी अज़ीमुल्ला खान की रही थी। अज़ीमुल्ला खान इस कार्य के लिए कानपुर से लखनऊ चले आए थे जहाँ उन्होंने लोगों के आक्रोश को एक ऐसी दिशा में बदलने का काम किया, जिससे ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध व्यापक आक्रोश की भावना फैले।

उस समय ऐसा लगता था कि जैसे कंपनी के शासन से प्रताड़ित समाज के विभिन्न वर्गों के लोग, चाहे वे उत्तरी भारत में हो या मध्य पूर्वी भारत के इलाकों में रह रहे हो, सब मिलजुल कर इस आततायी शक्ति को उनके अत्याचारों का जवाब देने के लिए एकजुट हो रहे थे। वे ब्रिटिश शासन को चुनौती देने के लिए लामबंद हो चुके थे, बस एक चिंगारी की आवश्यकता थी।

18 अप्रैल 1857 को अवध के चीफ कमिश्नर हेनरी लॉरेंस के ऊपर कंकड़ फेंके गए। यद्यपि यह उनकी जान लेने का कोई प्रयास नहीं था पर यह लोगों के गुस्से और ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रति उनकी अप्रसन्नता का इज़हार अवश्य था। तीन मई 1857 को लखनऊ छावनी में एक ऐसी घटना हुई जिसने दिखा दिया कि अब स्थानीय सेना की बगावत का समय नज़दीक आ रहा है। कंपनी की सातवीं अनियमित इन्फेंट्री के सैनिकों को उन कारतूसों को मुँह से काटकर रायफलों में लोड करने का आदेश दिया गया जिनका इस्तेमाल स्वयं कंपनी के एक आदेश से स्थगित कर दिया गया था। उन सैनिकों ने इस आदेश का पालन करने से इंकार कर दिया। तब अधिकारियों ने इस रेजिमेंट को भंग करने के आदेश जारी किए।

इस घटना के परिणाम बिल्कुल अलग होंगे, ऐसा लोगों को विश्वास हो चला था। वही हुआ। पूरे लखनऊ नहीं बल्कि अवध के गांव–गांव तक अफवाहों का बाज़ार गर्म हो चला। शहर में जो अफवाह एक ख़बर की तरह चल रही थी वह यह थी कि सैनिकों की इस हुकुमुदुली के परिणाम स्वरूप अवध के चीफ कमिश्नर सर हेनरी लॉरेंस ने 14 भारतीय सिपाहियों को फांसी की सजा सुना दी है। आगा मिर्जा, छोटे खान और गोलागंज के औज अली ने फुलटान हाउस के कैप्टन कार्नेगी पर हमला किया, परन्तु वह उसका सौभाग्य था कि कप्तान इस हमले से घायल हुए बिना बच निकला। बाद में इन तीनों संघर्षकर्ताओं ने एक जुलूस निकाला, जिसे 'निशाँ–ए–मुहम्मद' कहा गया। देखते ही देखते इस जुलूस में हजारों लोग शामिल हो गये। उसी कप्तान कार्नेगी ने अपनी बटालियन के लोगों को इकट्ठा कर लाठियां भांजी, और भीड़ को तितर–बितर कर दिया।

अगले ही दिन, यानी चार मई को आगा मिर्जा को सरे आम जनता के सामने मच्छी भवन के बाहर फांसी की सजा दे दी गई। इसके लिए कोई न्यायिक कार्रवाई की औपचारिकता तक नहीं की गई थी।

इतिहास में शायद इस बात की व्यापक चर्चा न हो, पर वास्तविकता यह थी कि लखनऊ के इन सैनिकों के विद्रोह और आगा मिर्जा को फांसी दिए जाने के समाचार अन्य जगहों के साथ 9 मई को मेरठ भी पहुंच चुके थे। मेरठ में 10 मई 1857 को हुई व्यापक क्रांति के बाद का इतिहास हर कोई जानता है। मेरठ की घटनाओं से आक्रोशित सैन्य बलों और आम जनता के गुस्से का ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों पर कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। दरअसल वे इस संघर्ष को ज़बरदस्ती और बल प्रयोग से दबाना चाहते थे

न कि इसे हल करना। हेनरी लॉरेंस जैसे तार्किक अधिकारी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी जो भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का एक सकारात्मक चेहरा था और संयोग यह था कि वह उस समय अवध प्रांत का सर्वोच्च अधिकारी था।

पर जो निर्णय हुआ वह दुःखद था। 14 मई को लखनऊ में मेरठ के विद्रोह की ख़बर आ चुकी थी। ब्रिटिश पक्ष ने अब उन सिपाहियों की पहचान की, जिन्होंने तीन मई की घटना में कारतूसों को मुँह से काटने से इंकार कर अन्य लोगों का नेतृत्व किया था। उन्हें 14 मई को ही फांसी पर लटका दिया गया। दिल्ली में ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का तब तक पतन हो चुका था, पर यह समाचार लखनऊ में इस फांसी दिए जाने की घटना के अगले दिन ही पहुंच पाया।

चिनहट का युद्ध लखनऊ की मुकम्मिल बगावत का ऐलान था, और जब यह हुई तो 1858 तब क्रांति की इस आग को सुलगाए रखादृ वहाँ के आम लोगों ने, सैनिकों ने और ग्रामीणों ने। न जाति का कोई भेद रहा, न धर्म, संप्रदाय, या गरीब–अमीर का। उन्हें आज़ादी की दरकार थी, और फिरंगियों को इस मुल्क से निकाल बाहर करने की। इससे कम किसी को स्वीकार न था।

जब लखनऊ और उत्तरी भारत के अन्य प्रभावित हिस्सों में यह बगावत का दौर खत्म हो रहा था, इंग्लैंड में ऐसी चर्चाएं व्यापक रूप से फैल रही थीं कि लखनऊ में घायल बागी सिपाहियों को ज़िन्दा जलाया गया है। वहाँ के लोग अपनी ही सेना के निरीह लोगों पर किए गए अत्याचारों, लूट और अमानवीयता को लेकर आंदोलित होने लगे थे, सरकार और सेना पर प्रश्नचिह्न खड़े कर रहे थे। इन किस्सों में सच्चाई ज़रूर थी, पर ब्रिटिश सरकार इन आंदोलनों से उदासीन बनी रही, वह भारत पर पूर्ण विजय चाहती थी, जो लक्ष्य पूरा होने जा रहा था।

इसी दौरान, अपने उच्चाधिकारियों के निर्देश पर, ब्रिटिश सेना की एक बटालियन ने कैसरबाग के शाही हरम पर कब्ज़ा कर लिया था। इस हरम में लगभग 80 औरतें थीं, जो कैसरबाग के इस स्थल पर विभिन्न जगहों से लाई गई थीं। ये बेगमें भी थीं। साथ ही इनमें दासियाँ भी थी जिनमें कुछ तो खूबसूरत थीं और कुछ काफी प्रौढ़ा थीं। उनकी देखभाल के लिए एक ऐसे ब्रिटिश सैन्य अफसर को तैनात किया गया जिसकी छवि शराब पीने की या दुश्चरित्र वाली नहीं थी। उस अफसर ने काफी हिन्दुस्तानी भी सीख ली थी, जो स्थानीय लोगों की जुबान को अच्छी तरह समझ सकता था। उसके साथ एक दर्जन सैनिक लगाए गए थे, जिनमें से कई की तैनाती स्वयं कॉलिन कैम्पबेल की संस्तुति पर हुई थी। वे अधिकतर 25 वर्ष से अधिक सेवा वाले विवाहित सैनिक थे।

तब तक लखनऊ शांत हो चुका था। मार्च 1858 के अंत तक 93वीं रेजीमेंट दिलकुशा आ गई थी। वे लोग इसलिए राहत महसूस कर रहे थे कि कम से कम सड़ती लाशों से उत्पन्न दुर्गंध भरी स्थिति से तो उनका पीछा छूटा। तब तक मौसम भी गरम हो चला था। संघर्ष में मारे गए लोगों की लाशों पर दिन में भिनभिनाती मक्खियों और रात को मच्छरों का हमला देखना स्वयं भी विक्षोभ उत्पन्न करने वाला होता था। उस पर दिक्कत यह भी थी कि वहाँ तैनात ब्रिटिश सैनिकों के नहाने और कपड़े बदले तक की कोई उचित व्यवस्था नहीं थी।

इस अवधि के दौरान धीरे–धीरे शहर के लोग अपने घरों पर वापस आने लगे थे। वे उन घरों को व्यवस्थित करने में जुट गए थे। हजारों कुली और सफाई करने वाले लोग लाशों के मलबे को साफ करने, मलबा हटाने के काम में आ जुटे थे। ऐसे में ब्रिटिश सेना ने सात अप्रैल 1858 को लखनऊ छोड़ने का फैसला लिया। उनका अगला अभियान रुहेलखंड का था, जहाँ वे बरेली के लिए गंगा नदी के किनारे–किनारे की पट्टी से निकलने को तैयार थे। उनका यह रास्ता रात दो बजे गोमती के दक्षिणी तट से, मूसाबाग के पीछे से निकला। लखनऊ से पाँच मील का सफर पूरा कर पहला पड़ाव डाला गया।

अकेले अवध प्रांत में कुल 364 लोगों को बगावत में भाग लेने का अपराधी मानते हुए उन पर मुकदमे चले। इनमें से 23 को फांसी दी गई, 115 को निर्वासित किया गया तथा 13 को तीन वर्ष या उससे कम अवधि की जेल की सज़ा

मिली, 27 को कोड़े लगाए गए, 47 पर जुर्माना और 139 को बरी किया गया। लगभग 50 ताल्लुकेदारों और उनके फुटकर सहयोगियों की ज़मीनों को ज़ब्त कर लिया गया।

एक ब्रिटिश शोधार्थी का दावा था कि, "दिल्ली, कानपुर, बनारस और इलाहाबाद की क्रांति की घटनाओं पर काबू पाने के बाद वहाँ जितनी भारी संख्या में लोगों को फाँसियाँ दी गईं, उनकी अपेक्षा यह संख्या नगण्य थी।"

लेकिन इसी शोधकर्ता ने स्वीकार किया था कि अवध के लोग अपने स्वाभिमान और अस्मिता की रक्षा के लिए बहादुरीपूर्वक लड़े, इसलिए शत्रु पक्ष (ब्रिटिश) ने उनकी कम सराहना नहीं की।

जब इस फिरंगी नेतृत्व की सेना की जीत और लूट का जश्न ठंडा पड़ा तो लखनऊ एक मृत्यु और सन्नाटे का शहर बन गया था। घबराए और आतंकित बहुत–से लोगों ने शहर को अलविदा कह कर दूर के गांवों का रास्ता पकड़ा। चहल–पहल वाली सड़कें, खुशनुमा गलियां और आबाद मोहल्ले भी एक मृत्यु की–सी चुप्पी में डूबे थे। इन वीरान जगहों पर उल्लू बोला करते तथा आवारा कुत्तों का साम्राज्य स्थापित हो चला था। कुछ गलियों में बूढ़ी औरतें और बेसहारा फटेहाल लोग जरूर दिखा करते, पर उनकी आँखों में भी खौफ के डोरे थे। शानदार महलों और खूबसूरत बगीचों की नीरवता और भुतहा वातावरण में अगर चील–कौव्वों का साम्राज्य कायम हो गया था, जो सड़े–गले शवों को नोच कर उनके बंदरबाँट के लिए आसपास ही विचरण किया करते थे, तो यह कोई अजूबा न था। नीला आकाश भी इस माहौल से उपजे धुएं से बदरंग हो गया था।

इस सबके बावजूद समय सबसे बड़ा मरहम होता है। वह सब घाव भर देता है। मृत्यु के तांडव, वहशियाना हरकतों की कहानियों और फिरंगियों के निर्ममता के किस्सों से जूझता लखनऊ भी इसका अपवाद न था। धीरे–धीरे मलबा हटाया जाने लगा, लाशों से कंकाल में बदल गए अवशेषों को उनकी सही जगह पहुंचा कर इन्सानी नज़रों से ओझल किया गया। लोग धीरे–धीरे ही सही, पर सतर्क होकर, संशयों और अवरोधों के मध्य अभी भी मौजूद दुर्गंध का सामना करते, हिम्मत से काम लेकर, अपनी जगह बनाते हुए जले, बिखरे और नष्ट हुए मकानों के मलबों को पार कर, अपने घरों की तरफ आते–जाते दिखाई देने लगे थे। वे ऐसे लोग थे, जो न जाने क्यों फिरंगी प्रशासन के उस भरोसे को अपनी मृत्यु की कसौटी पर परखने को तैयार थे, जो उन्होंने अमन और चैन के लिए लखनऊ की जनता को दिया था। शहर के काफी रास्तों को फिर से आवागमन के योग्य बना दिया गया था, दुकानें खुलने लगी थीं पर उनमें रोज़मर्रा के ज़रूरी सामानों की कमी थी। उन दुकानों को पटरी पर लाने की कवायद की जा रही थी। इस अवसाद भरे माहौल में किसी प्रकार संघर्ष के प्रतीकों को उनके मूल रूप में वापस प्रतिस्थापित करने की कोशिश की गई। उनकी मरम्मत कर जनजीवन को सामान्य बनाने का प्रयास किया गया, परंतु लखनऊ फिर कभी नवाबी–बादशाहत वाले काल के रंगों, रौनकों और फिजा वाला जीवंत शहर रह पाया, इसमें संशय आज भी है।

दरअसल, लखनऊ केवल एक शहर नहीं, तहजीब का नाम था। वह एक खूबसूरती, खुसूसियत और ज़र्रानवाज़ी की जगह थी, एक संस्कृति का केंद्र थी अवध प्रांत की यह राजधानी। उसे जो धक्का लगा वह फिर से उसके मूल रूप में वापस लाने के लिए सारे इंतज़ामातों के बावजूद, नाकाफ़ी था। वह उस से उबर नहीं पाया क्योंकि न तो वहाँ अवध का बादशाह था, न उनका दरबार, न उन घुंघरूओं की आवाज़ और न ही संगीत और साहित्य को समझकर उन पर दाद देने वाला कोई सत्तानशीन इन्सान दोबारा वापस लौट पाया था। वहाँ जो थे वे व्यापारी थे, और व्यापारी भावनाओं को नहीं समझते, फिर ये तो गैर–मुल्क और अलग संस्कृति के लोग थे, उनसे ऐसी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। अवध के मूल शासकदृ नवाब से बादशाह बन कर सत्ता संभाले राजघराने के पतन के साथ ही उस कला तथा जीवंतता की वे खासियतें भी दफन हो गईं, जिन्हें उन जुनूनी लोगों ने, बड़े जतन से पीढ़ी दर पीढ़ी सींच कर मौजूदा हालात में लाने का काम किया था। न जाने कितनी बेशुमार मोहब्बत और दिलों जान से पाल–पोस कर इस संस्कृति को आगे बढ़ाया था। ऐसे शहर की जीवन रेखा को अगर काट दिया जाए तो वह फिर से कब तक सांसें ले सकती है, यह समझना मुश्किल न था।

एक ब्रिटिश इतिहासकार का कहना था, "यदि ईश्वर ने हमें पूरब में कोई महान काम करने के लिए नहीं चुना होता, तो हमारी निर्दयता, उत्पीड़न और हमारे शासन की स्वाभाविक गड़बड़ियों ने हमें उसके फल चखने के लिए भी नहीं चुना होता। ऐसे में इस देश से हमें दंडित कर घृणापूर्वक निकाल बाहर करना दूसरे देशों के लिए एक उदाहरण होता। हमें बुरी तरह की सजा मिली हैय ऐसी चोट पहुंची है कि अभी उस डर से हम सहमे हुए हैं। आख़िरकार हमें अपनी जिम्मेदारियों पर भी निगाह डालनी चाहिए और उन्हें पूरा करने का प्रण लेना चाहिए। इंग्लैंड की कठिनाई इंग्लैंड के लिए अवसर है। अगर अब हम हिंदुस्तान के साथ व्यवहार करने में बुद्धिमान हों, तो कानपुर के कुएं से ऐसा पानी निकलना चाहिए, जो जमीं की प्यास को बुझा सके, और हर कोने से आशीर्वाद की फसल लहलहाये।"

इतिहासकार ही नहीं, संपादक भी रणनीतियों में मानवीय पक्ष के भी पक्षधर थे, जो देश में फैले विद्रोहय विशेष रूप से अवध की स्थिति पर दृष्टि रखे हुए थे। द टाइम्स, लंदन में प्रकाशित एक टिप्पणी का कहना था कि, "अब, जबकि पूरे भारत को व्यापक रूप से अधीन कर लिया गया है, और अफगानिस्तान से सियाम की सीमाओं तक ऐसी कोई शक्ति नहीं बची है, जो हमारा विरोध करने की भी हिम्मत रखती हो, हमें अब मानवीय और सौम्य होना चाहिए, तथा उनकी तनख्वाओं और पेंशन के मामलों में सजा देकर ही इस हुकूमउदुली से संतुष्ट हो जाना चाहिए, बिना सैन्य बल या बंदूक की नोक की धमकी का काम किये।

हमारा भारतीय साम्राज्य अब वह नहीं रहा, जो पहले हुआ करता था। उसके बावजूद भी गोरी रेजीमेंट्स उतनी ही बनी रही हैं। पिछले 15 वर्षों में हमने सिंध, पंजाब और पेगु को हड़पा है, अवध और उसके आसपास के सहयोगी जनपदों की बात तो छोड़ ही दीजिए। इसलिए अब सेना की देखभाल करने और जिम्मेदारी निभाने का मामला काफी बढ़ गया है। यद्यपि यूरोपियन सैनिक महंगे पड़ते हैं– एक व्यक्ति पर रु 100 प्रति माह का व्यय आता है, और उनमें से काफी तो युद्ध के मैदान में जाने से पहले ही अपनी बैरकों में ही शहीद हो गए, परंतु हमें स्थिति की ज़रूरतों से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। हमने भारत पर विजय ब्रिटिश हाथों से पाई है, और उनके लिए इसे बरकरार रखना होगा। अगर किसी अवसर पर, चाहे दस मील या एक हजार मील दूर, कोई यह विश्वास करता हो कि इंग्लैंड की शक्ति एशियाई लोगों या किसी और नस्ल या समुदाय के लोगों द्वारा एक दिन के लिए भी उखाड़ फेंकी जा सकती है, तो इससे हमारे चरित्र की उच्चता और मानव सभ्यता की भावनाएं निष्प्रयोज्य सिद्ध होती हैं।"

जब लंदन के इस चर्चित अखबार की रिपोर्ट वहाँ के लोग पढ़ रहे थे, बंगाल से पेशावर और उड़ीसा के कटक, उत्तर भारत के प्रमुख नगरों, छावनियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध स्वतंत्रता का संघर्ष अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा था। जिन लोगों पर ये ब्रिटिश सैनिक–अधिकारी भरोसा करते थे, वे खुलकर बागी हो रहे थे। संघर्ष पर उतारू संघर्षकर्ताओं का कहना था कि वे अपने भाई–बंधुओं से अलग कैसे सोच सकते हैं।

इतिहास के उन पन्नों को पढ़ने मात्र से ही एक सिहरन–सी दौड़ जाती है– क्या कोई इतने भी बर्बर हो सकता है? क्या मानवीय मूल्यों का कोई मोल नहीं? क्या विदेशी शक्ति, वह भी एक व्यापारिक कंपनी एक सुदूर देश के मासूम लोगों की भावनाओं से खेलकर, उन्हें आतंकित कर उन्हीं के लोगों के माध्यम से वहाँ के लोगों को हमेशा के लिए गुलामी की छाया में जीने को मजबूर कर सकती है? उनके संसाधनों का दोहन कर उन्हें नारकीय परिस्थितियों में रख सकती है? आज के दिनों में यह संभव प्रतीत नहीं होता, पर उस दौर का सच यही था। यह उन परिस्थितियों का एक प्रामाणिक इतिहास है, जो हमारे पूर्वजों ने झेलीं, सिर्फ इसलिए कि वे एकजुट नहीं थे, और इसीलिए हम 'विभाजित करो, और राज करो' के षड्यन्त्र के शिकार हुए। यह एक ऐसी सच्चाई है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

पता : 103, रीगेल रेजीडेंसी, आगरा एन्क्लेव, कामायनी हॉस्पिटल के पीछे, सिकंदरा,

आगरा–282007 (उत्तर प्रदेश)

मो. : 98977 41150

1857 की जन क्रांति से हमें क्या मिला?

❑ कुमकुम शर्मा

मेरठ से आरम्भ हुई सन् 1857 की क्रांति में मेरठ, उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के लोगों की भूमिका और उनने मानस पर इस क्रांति प्रभाव के आलोक में घटित घटनाओं को अभी भी गहनता से समझना शेष है। चूँकि इस क्रांति का उद्भव मेरठ में हुआ, इसलिए यह जरूरी है कि मेरठ के घटनाक्रम को अच्छी तरह से समझा जाए। दस मई सन् 1857 को मेरठ से आरम्भ हुई इस क्रांति का प्रभाव दिल्ली और देश के अन्य शहरों, रियासतों तथा आम लोगों में कैसा हुआ, यह समझने के लिए तत्कालीन मेरठ का अध्ययन करना आवश्यक है। मुगल भारत की राजधानी दिल्ली, अवध की राजधानी लखनऊ, कानपुर, बिजनौर, बुलंदशहर सहारनपुर, मुरादाबाद और अन्य जगहों का भी इसी परिप्रेक्ष्य में जायजा लेना होगा। तभी इस क्रांति के निहितार्थ समझ आते हैं। यह भी पता चलता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के सत्ताधीशों ने जाने–अनजाने में, अपनी निर्मम और बर्बर नीतियों से ऐसी किन परिस्थितियों का निर्माण कर दिया था, जो लोग एक इलाके से दूसरे इलाके तक, शहर–शहर और गाँव–गाँव बगावत पर उतर आए। सच यह था कि भारतीय अल्पशिक्षित जनमानस ने इन फिरंगी शासकों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति को भी समझ लिया था, और उनकी चालों को भी।

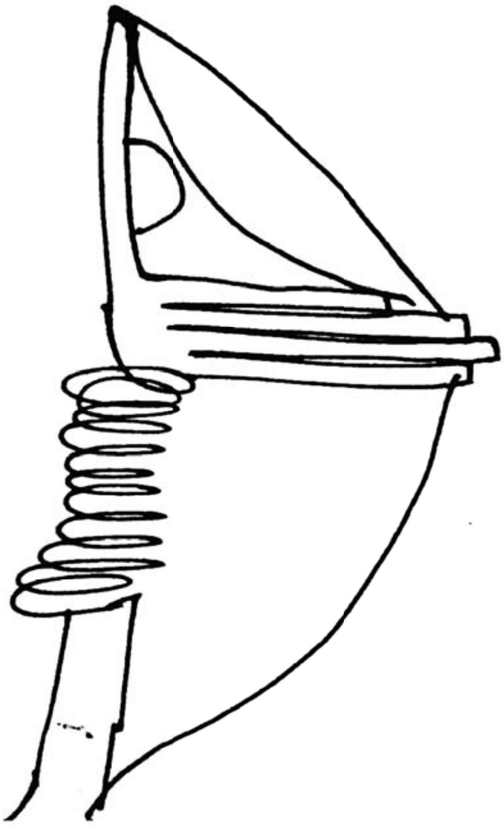

यद्यपि मेरठ एक प्राचीन नगर है, पर उसको वैश्विक चर्चा सन् 1857 के जन विद्रोह से मिली। 24 अप्रैल,1857 कोय तृतीय अश्वारोही सेना के 90 में से 85 सैनिकों ने चर्बीयुक्त कारतूसों को इस्तेमाल करने से मना कर दिया था। कोर्ट–मार्शल के बाद उन्हें दस वर्ष के कारावास का दंड मिला। इसके विरोध में उपजे विद्रोह से ही ब्रिटिश राज से मुक्ति पाने की पहली चिंगारी भड़क उठी थी, जिसे न केवल शहरी बल्कि ग्रामीण और आंचलिक जनता का भी पूरा समर्थन मिला। पर, अफसोस, यह क्रांति

अधूरी रह गई। यह एक स्वतः स्फूर्त क्रांति जो थी, जिसका कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं था, न उनके पास हथियार थे, न रणनीतियाँ। कुछ स्थानीय लोग जो इस क्रांति के परिणामों का नकारात्मक आकलन कर बैठे थे, डर और लालच में ईस्ट इंडिया कंपनी के भेदिये भी बन गये थे।

इतिहास को खंगालिए तो समझ आता है कि शहरों का उद्भव कैसे हुआ है, उनका इतिहास क्या रहा है, उनकी बसावट किस काल की है, और उस पर किस संस्कृति तथा भूगोल का प्रभाव है। इतिहास हमसे कुछ लेता नहीं है, पर हमें दृष्टिबोध को विकसित करने में सहायक अवश्य होता है। कई बार यह इतना ज्ञानवर्धक हो सकता है कि आपकी दशकों और यहाँ तक कि इससे बचपन से जमी धारणाओं को ध्वस्त होते देर नहीं लगती। उनकी छद्मता ताश के पत्तों से बने महल की तरह एक दरकन भर से ढह जाती हैं। तब आपको ग्लानि होती है कि आपने अब तक उन पर्तों के पीछे लुके–छिपे कुछ रहस्यों और विकास यात्रा के इन ऊँचे–नीचे सिलसिलों को जानने की कोशिश क्यों नहीं की, जिनसे इस मिट्टी का राब्ता रहा है।

जब तक सब काम धंधे सामान्य रूप से चल रहे थे, किसानी के काम में कोई बाधा नही थी, तब कोई क्यों किन्हीं फिरंगियों की मंशाओं पर शक करता! पर जब दिखने लगा कि इन यूरोपीय लोगों की मंशा तो इस देश को हमेशा अपने अधीन रखने की है, उसका दोहन करने की है, तो पहले शासक, फिर प्रजा की सतर्कता बढ़ी। प्लासी का युद्ध एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव था। उसके बाद सन 1857 आते–आते कोई शक नहीं था कि ये ब्रिटिश फिरंगी अब देश के नये मालिक बन गये हैं। तब धीरे–धीरे, इस जनपद के न जाने कितने जाने–अनजाने मतवालों ने ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध 1857 की क्रांति में न केवल भाग लिया बल्कि उस संघर्ष में खुद को झोंक दिया था, जिससे उन्हें देश से उस आक्रान्ता को खदेड़ने के लिए जमीं तैयार करने का अवसर मिला था, पर यह बात साफ थी कि उन्होंने अपने पश्चिमी मूल्यों को हम पर लादने की कोशिश की। उन्होंने सिर्फ यहाँ की प्राकृतिक सम्पदा का दोहन अपना मूल उद्देश्य बनाये रखा। उन दिनों कभी यह जनपद सहारनपुर के साथ जुड़ा या कभी मेरठ की कमिश्नरी का एक महत्त्वपूर्ण जिला रहा था।

सीमित लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं से आरंभ हुए अनवरत संघर्षों, उत्थान–पतन, प्रसिद्धि, वैमनस्यता के काले इतिहास, साम्प्रदायिक सौहार्द–विवादों और विस्मय की कथाएँ समेटे है यह पुरातन भूमि। तब यह एक तहज़ीब की विरासत के जनपद के रूप में भी ख्यात था, जहाँ का कैराना घराना संगीत के लिए चर्चित रहा था। यहाँ के लोग आतताइयों से लडे, यह देख कर नहीं कि वे किसी अन्य ख़ास सम्प्रदाय के थे। बस वे आतताई थे, जिन्हें खदेड़ना यहाँ की जनता का धर्म था। पर जब उन्होंने, या किसी भी एक समूह ने इस देश को, इस भूमि को अपना घर बनाने का निर्णय लिया, और इसी जमीं को अपनी भी मातृभूमि कहा, तो उनसे कौन सा मतभेद रहा? धरती माँ सबको अपने आंचल में समेटने की कूबत रखती है, इससे किसे इन्कार होगा। उसके बाद से यहाँ हिंदू–मुस्लिम सौहार्द के किस्से आम हुआ करते थे। तथ्य यह भी है कि जब आज़ादी की पहली लड़ाई का मोर्चा खुला, तो सन् 1857 में जनमानस ने अंग्रेजों के विरुद्ध जितने मोर्चे खोले, उनमें रक्त सभी का बहा। हालाँकि उनकी संख्या भी कम न थी, जो मौके का लाभ उठाने की नीयत से बर्तानी खेमों के साथ जा खड़े हुए, पर वे मुख्य धारा के लोग रहे होंगे, या ऐसे लोग अपने धर्म और संप्रदायों की ईमानदार भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, यह इतिहास नहीं मानता. हिंदुओं और मुस्लिमों के साथ ही सिख भी कंधे से कंधा मिला कर इन ब्रिटिश आतताईयों के विरुद्ध लडे, और ऐसे लड़े कि पीढ़ियाँ तबाह हो गई, पर झुके नहीं। उन्होंने यह भी दिखा दिया, कि यह हिन्दुस्तान सबका है।

मेरठ की इस क्रांति के विभिन्न चरणों की पड़ताल करनी होगी। साथ ही उसके जैसे अन्य शहरों की भी। जब लोग संशय के समय में पास आते हैं, तो हिंसा होती है, और वह हिंसा जख़्मों को और गहरा कर जाती है, या रिश्तों को पीढ़ियों के इस वैमनस्य के इतिहास को सही साबित करते हुए संबंधों की गरिमा को दफन कर देने की राह पर चल

पड़ने को बेसब्र हो जाती है। मेरठ के साथ ही उत्तर दोआब क्षेत्र के अन्य निकटवर्ती जनपदों, यथा बुलंदशहर, बिजनौर और मुरादाबाद पर भी दृष्टि डालनी ज़रूरी है, क्योंकि ये सभी जगहें एक से ही भाई–चारे से बंधी थीं, उसी साझी विरासत का हिस्सा थी, जो उनकी संस्कृतियों में गहराई से रच–बस गई थी। कहने को सन् 1857 की बगावत उत्तर भारत के एक सीमित क्षेत्र तक जरूर फैली, पर यह कोई साधारण किस्म की बगावत न थी। इसकी चिंगारी बैरकपुर में दिखी थीं, पर मेरठ में प्रज्ज्वलित हुई, और दूर–दूर तक फैल गईं। मुजफ्फरनगर तो मेरठ का सबसे निकटतम सीमावर्ती जनपद था। वह आग वहाँ से भला कैसे दूर रह सकती थी। इसलिए मुजफ्फरनगर की घटनाओं का मेरठ, सहारनपुर, बिजनौर, मुरादाबाद के साथ प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर लखनऊ, कानपुर एवं दिल्ली की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना स्वाभाविक है।

जनस्रोतों और लोकदृष्टि से लिखी गई घटनाओं को भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। इसमें छल–कपट, विश्वासघात, अवसरपरस्ती और देशद्रोह की स्वाभाविक निंदा ज़रूर होनी चाहिए। 1857 की इस क्रांति ने हमें क्या दिया? उसने कम से कम यह सबक तो दिया कि विजयगाथा से कहीं उच्च स्थान बलिदान गाथा का होता है। इस प्रकार लोकदृष्टि का रचा हुआ इतिहास जन–जन के मन का इतिहास होता है, उसे कैसे अनदेखा किया जा सकता है। यह उपेक्षितों, शोषितों, दमितों और दलितों, अख्यात, अज्ञात, अनाम–बेनाम और समाज के निम्नजन कहे जाने वाले तबके की बलिदान गाथा है, जो किसी विजय के इतिहास से अलग नहीं है। यह गाथा विश्व की सभ्यताओं को बताती है कि यदि इरादे चट्टानी हों, तो शस्त्र–रहित पंजों से भी बर्बर और आक्रामक शेर के जबड़ों को तोड़ा जा सकता है। उसे सिर्फ हिंसा, भय और आधुनिकतम शस्त्रों के प्रहार से नहीं जीता जा सकता, न ही भय दिखाकर लम्बे समय तक गुलाम बनाये रखा जा सकता।

एक बात और. इस क्रांति में हमारे देश में अबला कही जाने वाली महिला वर्ग ने जो योगदान दिया, वह किसी दृष्टि से कमतर न था। उन्होंने एक से अधिक मोर्चों पर लड़ाइयां लड़ीं। घर संभालना खुद एक बड़ा काम है, फिर घर से बाहर निकलना उससे भी बड़ा और चुनौतीपूर्ण काम था. वह भी तब जब एक ओर घर की बुर्जुआ ताकतों से निकलकर रास्ता बनाना था, दूसरी ओर आततायी प्रशासन का दृढ़ता से मुकाबला करना था। पर उन्होंने कर दिखाया, और अच्छे से किया, वे सभी वीरांगनाएँ यह नमन के योग्य है।

देश के इतिहास में यह एक ऐसा महासंग्राम था जो साम्राज्यवादी सत्ता और देश की सर्वहारा जनता के बीच सीधे–सीधे लड़ा गया। इस देशव्यापी महासमर में जन–जन की सक्रिय भागीदारी ही इसकी ऊर्जा थी। विशिष्ट वर्ग भी इसमें जी–जान से शामिल रहा, यह कहना उचित न होगा। जो रहे, वे अपने संस्कारों और व्यक्तिगत प्राथमिकताओं के कारण रहे। किसान वर्ग जो हमेशा से शोषित रहा, इसमें स्वाभाविक रूप से अग्रणी था, तो उनका शोषण करने वाले अधिक तो नहीं, पर्याप्त मात्रा में महाजन भी इस क्रांति के साथ आ जुटे थे। इस मायने में यह एक अलग किस्म का संग्राम था। हार–जीत के मोटे सिद्धांत इस महायुद्ध के लिए लागू नहीं थे। साधु–फकीर, वैश्याओं और नृत्यांगनाओं, गुप्तचरों, हरकारों और देसी सैनिकों ने अपने भविष्य के संकटों को, रोजी–रोटी की दिनचर्या को अनदेखा करते हुए इस क्रांति के लिए अपने जुनून को आगे किया, यह 1857 की एक बड़ी उपलब्धि थी। कम से कम आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश की और उत्तरी दोआबा के एक बड़े हिस्से की तो निश्चित रूप से। कुछ लोग कहते हैं कि 1857 से हमें क्या मिला? यह तो सीमित स्थानों, वर्गों और समुदायों की एक असफल क्रांति थी। ऐसी क्रांति, जिसने हज़ारों निरीह, असहाय जुनूनी लोगों की जानें ले लीं। आतताइयों ने यह भी नहीं सोचा कि महिलाओं और बच्चों की जानों का दुःख उनके जीवन को भी तो सालता रहेगा। उन्होंने जो निर्दयता दिखाई, उसका सानी शायद आसानी से नहीं मिलेगा। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थानीय भारतीय लोगों पर किये गए अत्याचारों से इतिहास का एक अलग ही वर्ग

तैयार हो गया था। यह भयावहता सोचने को मजबूर करती थी कि यूरोप की सुसंस्कृत कही जाने वाली जातियाँ कितनी पाशविक और बर्बर रही थीं। उन्होंने अपने व्यापारिक हितों और इस देश की प्राकृतिक संपदा के गहन दोहन के उद्देश्य के लिए जो–जो अत्याचार किये, उनका वर्णन करना आसान नहीं है।

यह क्रांति भले ही अपने उद्देश्य में सफल न हो पाई हो, पर इसने हमें बहुत कुछ दिया। इसने देश को एकजुट किया, अपने–पराये की पहचान कराई, आने वाली चुनौतियों का और भी दृढ़ता, अनुशासन और रणनीति से मुकाबला करना सिखाया। इस क्रांति से ईस्ट इंडिया कंपनी की 'फूट डालो, और राज करो' की नीति की भी अच्छे से पोल खुली। लोगों को आंदोलनों की महत्ता समझ में आई। उधर ब्रिटिश साम्राज्य को भी लगा कि एक महत्त्वपूर्ण उपनिवेश को अपने साथ बनाये रखने के लिए अपनी मनमर्ज़ी की रणनीतियों को बदल कर उन्हें तर्क और नियमों के आधार पर लागू करना होगा। ईस्ट इंडिया कंपनी से हटकर इस उपनिवेश का शासन ब्रिटिश महारानी के सीधे नियंत्रण में आने के बाद यहाँ की प्रशासनिक, न्यायिक और सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का उन्नयन हुआ, भले ही उस गति से नहीं हुआ, जिस तरह से अपेक्षित था। अंततः नौ दशकों की कशमकश और लगातार चलने वाले क्रांतिकारी तथा अहिंसक आंदोलनों के बाद ब्रिटिश सरकार को यहाँ से अपना बोरिया–बिस्तर उठाना ही पड़ा। यह मूल रूप से 1857 की क्रांति से उपजे जुनून का ही परिणाम था। उन्हें तब यह भी समझ आ गया था कि किसी भी राज्य की सत्ता को एक कानून बनाने भर से (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स) से कब्ज़े में नहीं लिया जा सकता।

इस क्रांति ने हमें अपने लक्ष्य के थोड़ा निकट अवश्य ला दिया। यह जन संघर्ष न केवल भारतीय समाज में इस अनधिकृत यूरोपियन हस्तक्षेप से देश के सामाजिक ढाँचे में शनैः–शनैः उत्पन्न हुई दूरियों का विश्लेषण करने, उन्हें कम करने में थोड़ा–सा बौद्धिक प्रयास और फिर से एक सौहार्दपूर्ण संस्कृति के अंतर्गत एक सूत्र में पिरोये जाने का न केवल बहाना बना, बल्कि सम्प्रदायों के साथ ही जातियों, सामाजिक वर्गों, अमीर–गरीब, उच्च–निम्न वर्ग तथा ऐसे ही मानव–निर्मित दायरों को तोड़ सकने की एक मुकम्मल सोच भी बनी। पर क्या आज़ादी के बाद भी वाकई ऐसा हो पाया? यह मुख्य सम्प्रदायों के मध्य दावानल के रूप में मौजूद उस सोच के मध्य सेंध लगाने और अंततः उसे बुझा कर हमेशा के लिए दिलों की दूरियों को एक करने की ईमानदार कोशिशों पर निर्भर करता है, जिसने न जाने कितने परिवारों और उनकी उम्मीदों को लीलने में कोई कोताही नहीं की है, और न जाने कितने प्रश्नों तथा संशयों को अनुत्तरित रख छोड़ा है। यह स्थिति तब है जबकि कोई धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन यह नहीं कहता कि एक धर्म किसी दूसरे धर्म के सह–अस्तित्व में नहीं पनप सकता। यह कितना दुःखद है कि इस क्रांति में हजारों लोगों के निःस्वार्थ बलिदान के बाद आज भी न जाने कितने वीर और वीरांगनाएँ अनाम रह गई हैं, विस्मृत हैं। उनको हम लोग नहीं जानते, क्योंकि न उनके स्मारक बने हैं, न उनके विषय में हमें पढ़ाया जाता है। इसके विपरीत आज भी 1857 की क्रांति में जान गँवाने वाले बहुत से आततायी ब्रिटिश लोगों की भारत में कब्रें प्रमुखता से मौजूद हैं। यही नहीं, उनमें से एक–एक के विवरण और कारनामें भी बढ़ा–चढ़ा कर उल्लिखित किए गए हैं। हम लोगों ने भी उनके मृत्यु के स्मारकों को बेहतर ढंग से सहेज कर रखा है, यह हमारी सहिष्णुता का अतिरेक है। हर साल 11 मई और 14 तथा 19 सितंबर को पर्यटक और जनरल जॉन निकोलसन के वंशज इसी स्थान पर उन्हें श्रद्धांजलि देने आते हैं। यह इंसान वह था जिसने सन् 1857 की क्रांति को निरीह भारतीयों के खून से रंगने में बेइंतहा निर्दयता से काम लिया था। उसने इस संग्राम में दिल्ली पर कब्ज़ा करने वाले विद्रोहियों से उसे छुड़ाने में निर्णायक भूमिका निभाई थी। हालांकि इस अभियान में निकोलसन को अपनी जान गँवानी पड़ी, लेकिन इस युद्ध में उन्होंने एक नायक का दर्ज़ा प्राप्त कर लिया था! उस इंसान की निष्ठुरता की प्रतिनिधित्व करती एक प्रतिमा भारत में प्रमुखता से बनी रही हो, यह सोच कर ही विस्मय होता है।

बहुत सी जगह तो भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण उन ब्रिटिशर्स के स्मारकों का रख–रखाव करने की प्रतिबद्धता से बंधा है, भले ही उन्होंने हज़ारों–हज़ार निरीह भारतीयों का दमन किया हो। क्या आप जानते हैं कि सन् 1857 की क्रांति के दौरान ब्रिटिश पक्ष के मृत लोगों का अधिकृत आंकड़ा दो हज़ार से कुछ अधिक है, जिसे ब्रिटिश सरकार बताती है, पर उस सरकार के पास ऐसा कोई आंकड़ा नहीं है जो भारत के हज़ारों–हज़ार सेनानियों और उन निरीह लोगों की मौत का हिसाब बताता हो। अकेले लखनऊ के सिकंदरबाग में ही उन्होंने 2000 से अधिक उस भारतीय स्थानीय सैन्य बल का धोखे से नरसंहार किया था, जिन्होंने क्रांति के रंग में रंगने का फैसला लिया था। मुजफ्फरनगर की 256 महिलाओं को फांसी दिए जाने का उल्लेख तो ब्रिटिश अभिलेखों में भी है। इसी संदर्भ में पुरानी दिल्ली के रिज क्षेत्र में एक लाल पत्थर की लावारिस टावरनुमा संरचना को ढूंढना अधिक मुश्किल नहीं है। यह सन् 1857 की क्रांति का एक ब्रिटिश स्मारक है। एक आकलन के अनुसार इस आज़ादी की पहली लड़ाई में भारत के लगभग 80,000 लोगों ने अपनी जानें गँवाई थीं। जब स्थिति नियंत्रण में आई तो ब्रिटेन ने आठ जून 1857 से बीस सितंबर 1857 तक इस संग्राम के उत्कर्ष काल में मारे गए अपने कुल 2163 लोगों को श्रद्धांजलि स्वरूप इस स्मारक को खड़ा किया था। इसमें भारतीयों का ज़िक्र नहीं था, अगर था तो–#39; दुश्मन–#39; के रूप में।

अभी हाल में ही राजधानी दिल्ली में इंडिया गेट के सी–हेक्सगन में कुल लगभग 40 एकड़ भूमि में देश के पहले राष्ट्रीय युद्ध स्मारक का निर्माण हुआ, पर यह सन् 1857 के शहीदों को नहीं सन् 1947 से लेकर 2019 तक के शहीदों को श्रद्धांजलि स्वरूप बना है। ऐसा नहीं है कि ब्रिटिश बुद्धिजीवी इस क्रांति में अपने निहितार्थ न ढूंढते हों। अंग्रेजी इतिहासकार व्हाइट ने अपनी पुस्तक 'महान सिपाही विद्रोह का सम्पूर्ण इतिहास' में लिखा है, "मेरठ के इस भयानक विद्रोह से हमें एक महान लाभ अवश्य हुआ और वह यह था कि समूचे भारत के सैनिकों के विद्रोह का कार्यक्रम 31 मई 1857 के निश्चित दिन क्रियान्वित होना था, किन्तु समय से पूर्व भड़के उभार ने हमें जागृत कर दिया। दरअसल जिस तरह से दबे पाँव भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में सन् 1820 तक कंपनी का वर्चस्व हो गया था, उसने देश का पुरातन ढांचा अव्यवस्थित कर दिया था। ब्रिटिश वर्ग प्रथमतः भारतीय राजशाही राज्यों को अपने नियंत्रण में लेकर अंततः उन पर पूरा कब्जा करते जा रहे थे। हर जगह भारतीय कुलीनतंत्र को ब्रिटिश अधिकारियों के माध्यम से परिवर्तित किया जा रहा था। यानी वे अब इन रियासतों के नए मुखियाओं की भूमिका में आ गए थे. राज्य हड़प नीति इसका एक बेहद कटु और अनगढ़ उदाहरण था। गवर्नर–जनरल लार्ड डलहौजी ने सन् 1840 के दशक के अंतिम वर्षों में इस नीति का सख़्ती से प्रतिपादन किया, तो यह मानने में कोई हर्ज़ नहीं है कि भारतीय समाज में प्रतिरोध के बीज उसी समय से बो दिए गए थे।

एक परम्परागत देश को पश्चिमीकरण के अंधानुकरण करने से भी स्वाभाविक लोगों को असहजता थी, पर ब्रिटिश पक्ष ऐसा मानने को तैयार नहीं था। उधर ईसाई धर्म के प्रवर्तक मिशनरी हिंदुओं के धार्मिक विश्वासों को चुनौती देने की स्थिति में आ गए थे। कंपनी जिन सुधारों को लागू करने की रणनीति बना रही थी, उनसे भारतीय जनमानस का सशंकित होना एक नैसर्गिक प्रतिक्रिया थी। लार्ड डलहौजी ने सन् 1848 से 1856 तक, यानी इस क्रांति के एक वर्ष पूर्व तक भारतीय महिलाओं की तथाकथित उत्थानकारी योजनाओं को लागू करने के प्रति उनके जो प्रयास थे, वे मूर्त रूप तो कम ले पाए, पर आम लोगों की शंका को अधिक जन्म दे गए। हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह संबंधी अध्यादेश का लाना भारतीय मानस को तैयार किये बिना एक बड़ा कदम उठाने की भाँति था। जो लोग ईसाईयत में परिवर्तित हो गये थे, वे भी अपनी पारिवारिक संपत्ति में हिस्सा माँगने लगे थे। लोगों में एक आम भावना घर कर गई थी कि ब्रिटिश तंत्र का मूल उद्देश्य जाति व्यवस्था पर चोट करना था। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था को लागू करने को भी हिन्दू और मुस्लिम– दोनों तबकों में परम्परागत पढ़ाई के लिए चुनौती की तरह देखा जा रहा था। ब्रिटिशर्स ने हमेशा से इतिहास में झूठ लिखा है कि अनमने मुगल शहंशाह बहादुर

शाह जफर और उनके बेटों और अपदस्थ पेशवा नाना साहिब को छोड़कर शायद ही किसी राजघराने ने बगावत में स्थानीय सैनिकों का साथ दिया हो। जब दिल्ली पर बागियों ने हमला कर उसे अपने कब्जे में कर लिया, तब ईस्ट इंडिया कंपनी चुप नहीं बैठी थी। वह तीन–तरफा रणनीति पर काम कर रही थी। पहली, गर्मियों में दिल्ली, कानपुर और लखनऊ की प्रभुत्ता की लड़ाई, दूसरे, तत्कालीन अवध में सन् 1857–58 की, सर्दियों में ब्रिटिश जनरल कालिन कैम्पबेल के निर्देशन में विद्रोहियों के विरुद्ध भयावह मारकाट की लड़ाई, और तीसरे सन् 1858 में ही सर ह्यूज रोज की रणनीति के अंतर्गत लखनऊ पर फिर से कंपनी के आधिपत्य का संग्राम। अधिकृत रूप से आठ जुलाई 1859 को शान्ति बरकरार होने की घोषणा हुई, जबकि काफी जगह इससे बहुत पहले ही फिर से अंग्रेजी राज– ईस्ट इंडिया कंपनी का साम्राज्य, जो बदल कर सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया था, स्थापित हो चुका था।

इस घटनाक्रम ने हमें बहुत सीखें दीं। क्रूरता का नंगा नाच दिखा। गोरों की असभ्यता के जीते–जागते उदाहरण दिखे। इसने ब्रिटिशर्स को भी आइना दिखाया, पर हमने जो खोया वह वाकई में बहुत अधिक था। यह बात सही नहीं पाई गई कि कुछ उन्मादी बागियों ने ब्रिटिश महिलाओं और बच्चों के प्रति भी वहशीपन दिखाया था। ऐसा किसी भी रूप में संस्थागत या नीतिगत रूप से नहीं हुआ था। पर इस मुल्क में अपनी सत्ता खोने के आकलन से भयभीत फिरंगियों पर उनकी क्रूरता, असभ्यता, अपमानजनक और भयावह हरकतों का इतिहास में आसानी से कोई सानी नहीं मिलेगा। जब उन्होंने फिर से मुल्क के इस विद्रोही हिस्से पर अपनी प्रभुत्ता के झंडे गाड़े, तो उन्होंने चुन–चुन कर विद्रोहियों, उनके परिजनों को निर्मम सजाएँ दीं। महिलाओं को फांसियाँ दी गईं, लोगों को तोपों के मुंह पर बाँधकर उड़ा दिया गया, और न जाने क्या–क्या! ऐसे में इस क्रांति को सिर्फ बगावत कहना कितना उपयुक्त होगा?

यह लेख देश के एक बड़े हिस्से में फैली सन 1857 की क्रांति के एक सीमित स्थान–उत्तरी दोआब या वर्तमान के पश्चिमी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र पर दृष्टिपात करने की कवायद भर है। यह इस क्रांति या बगावत के जुनून में रहे लोगों के निश्छल बलिदान को याद करने का एक प्रयास भी है, उन्हें श्रद्धांजलि है, जिन्होंने देश को इस विदेशी क्रूर दासता से मुक्ति दिलाने की सोच के अंतर्गत खुद का अस्तित्व मिटाना पसंद किया। उन्हें ज्ञात था कि आजादी मिलना सरल न था, उनका अपना कोई साफ और निर्णायक भविष्य भी सामने न था पर उन्हें उम्मीद अवश्य थी, एक धुंधली किरण–सी हो सकता था कि वह उम्मीद, आशा की किरण एक ठोस विश्वास में बदल जाती, पर अफसोस... कि ऐसा कोई चमत्कार नहीं हुआ लोगों ने मन से इस जुनून के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर किया, पर जो अनिर्णय की स्थिति में रहे, ईस्ट इंडिया कंपनी की कुत्सित चालों से डर कर भयाक्रांत रहे, या किन्हीं क्षुद्र लालच के वशीभूत उनके पाले में खड़े होकर द्रोही बन गए, वे भी बड़े कारण थे, कि यह क्रांति असफल हुई। आज भी उसके लिए कोई अकेला और अंतिम कारण समझ नहीं आता है। कारण अनेक थे, लोग थे और लोगों की सोच थी। वह एक अवसर जो गँवाया गया, तो नब्बे साल फिर से उसी दासता में, उसी क्रूर आक्रान्ता के साए में बीते। इस इतिहास के एक छोटे से हिस्से को–मेरठ, मुजफ्फरनगर, बुलंदशहर, बिजनौर सहारनपुर, फिर दिल्ली, लखनऊ, कानपुर और न जाने कहाँ–कहाँ इस आन्दोलन से जुड़े शहरों–कस्बों और गाँवों के उन दिनों के हालातों को जानना, अपने पूर्वजों के उस जुनून को नमन करना, उनको एक बेहतर श्रद्धांजलि अवश्य होगी। इस क्रांति का चाहे जितना विस्तार से विवरण लिखने का प्रयास किया जाए, हर बार ऐसे प्रयास मात्र अल्प प्रयास बन कर रह जाते हैं। हर जगह, गाँवों और मुहल्लों में इस प्रथम क्रांति की घटनाएँ आज भी जिंदा हैं. उन सबको एकत्रित कर विश्लेषित करना एक वृहद कार्य है। पर, कहीं न कहीं से तो शुरुआत करनी होगी। •

मो. : 8960000962

चिनहट, लखनऊ, 30 जून 1857 : संघर्ष की गौरव गाथा

❑ दिनेश कुमार गुप्ता

चिनहट–इस्माइलगंज कुछ वर्षों पूर्व तक उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ का बाराबंकी जनपद की सीमा के निकट एक सोता हुआ–सा ग्रामीण इलाका भर हुआ करता था पर स्थितियाँ बदला करती हैं, और ये स्थितियाँ पिछले कुछ सालों में अपेक्षाकृत तेज़ी से बदली हैं। इन सालों में इस ग्रामीण इलाके को आधुनिकीकरण की आंधी ने लील–सा लिया है। यह इलाका एक ऐसी रौनक वाले क्षेत्र के रूप में तब्दील हो गया है, जहाँ अब किसी भी अत्याधुनिक कहे जाने वाले प्रतीक चिन्हों–शानदार रेसॉर्टस, सितारा होटलों, ऊंची–ऊंची आवासीय तथा व्यापारिक परिसरों की इमारतों, शॉपिंग माल्स, महंगी गाड़ियों के शो–रूम और चौड़े हाइवे–फ्लाईओवर तो मौजूद हैं ही, इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ पीठ का नया और आधुनिकतम सुविधाओं से सज्जित परिसर भी यहाँ विश्व–स्तरीय इमारतों से टक्कर लेने को बेताब दिखता है। पर इस चकाचौंध में जो जगह गुम हो गई है, वह यहाँ का औद्योगिक क्षेत्र नहीं, न ही रंग–बिरंगी पॉटरी का केंद्र रहा चिनहट क्षेत्र का कोई एक छोटा हिस्सा है। वह एक ऐसी घटना है जिसे कोई नहीं जानना चाहता। उसकी जानकारी का कोई प्रभावी स्मृति चिन्ह यहाँ मौजूद नहीं है, जो भी है उसे एक औपचारिकता भर कहा जा सकता है। यह घटनाक्रम है चिनहट में 30 जून, 1857 को हुई ईस्ट इंडिया कंपनी के सैन्य बलों का भारतीय विद्रोही सैन्य बलों से युद्ध। यह वह युद्ध था, जिसने न केवल ब्रिटिश पक्ष को भारतीय विद्रोही बलों के जुनूनी सैनिकों और स्थानीय लोगों ने करारी और शर्मनाक हार दी थी, बल्कि उनको अगले कई महीनों तक हर पल मौत के साये में गुजारने जैसी घेराबंदी में रहने को मजबूर किया था। तब ईस्ट इंडिया कंपनी के न जाने कितने अफसर और उनके

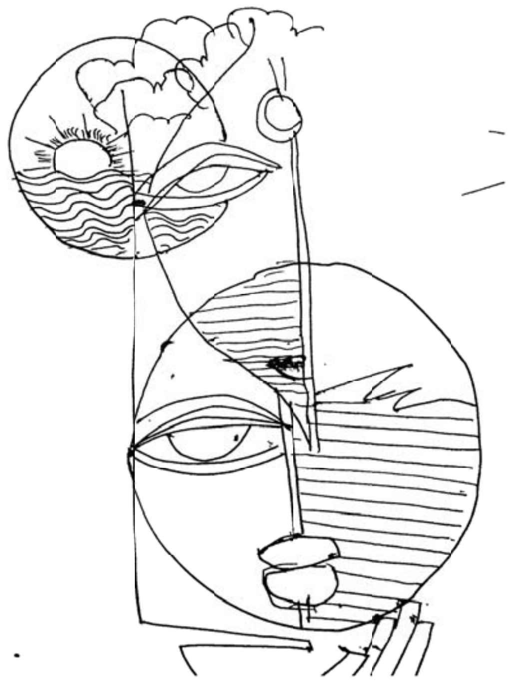

21/37

परिजन भूख से, बीमारी से, अवसाद से और बाहर जमे विद्रोहियों के सैन्य बल की गोलाबारी से हताहत हो गए थे।

1857 की इस क्रांति को घटित हुए 167 वर्ष हो गए हैं, पर अभी तक इसकी सब घटनाओं और परिस्थितियों का सामाजिक, यौद्धिक एवं अन्य कारकों का व्यापक विश्लेषण नहीं किया जा सका है। यह सब जानते हैं कि अवध की राजधानी लखनऊ में ईस्ट इंडिया कंपनी के वरिष्ठ अधिकारियों की रेजीडेंसी में हुई लंबी घेराबंदी इस कालखंड की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है, पर जिस युद्ध ने इस घटना की तात्कालिक परिस्थितियाँ बनाईं, जहाँ ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना की भयावह और शर्मनाक पराजय हुई, उसे भारतीय इतिहास ने विस्मृत कर दिया, जबकि वह यहाँ के विद्रोही सैन्य बलों और स्थानीय लोगों की गौरव गाथा है।

30 जून, 1857 को चिनहट–इस्माइलगंज में ऐसा युद्ध हुआ था, जहाँ कंपनी के सैन्य बलों और फिरंगी अभिमान के प्रतीकों को नेस्तनाबूद कर दिया गया था। उस हार ने भारतीय तथाकथित विद्रोही पक्ष के जुनून को युद्ध के मैदान में बहुत अनुशासित तरीके से फिरंगियों के ऊपर हावी होते देखा था। इस युद्ध की एक विशेष बात यह भी थी कि आख़िरी समय तक ब्रिटिश पक्ष के उच्चाधिकारी यह समझ ही नहीं पाए कि चिनहट का युद्ध उनके लिए विजय की नहीं, एक बड़ी पराजय की कहानी लिख देने का प्रारब्ध लिए हुए आया है।

यह युद्ध इतनी अल्प अवधि का था (मात्र कुछ ही घंटों का), कि पूर्वाह्न नौ बजे से लेकर 11 बजे तक ईस्ट इंडिया कंपनी की तोपों, हाथियों, घोड़ों और हथियारों से सज्जित इस सेना के बचे हुए लोग बुरी तरह पराजित होकर रेजीडेंसी की ओर भागने और स्वयं को सुरक्षित करने में लग गए थे। यह उनकी पूर्ण और निर्णायक पराजय थी, पर ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़िम्मेदार लोगों ने इस तथ्य को कभी स्वीकार नहीं किया। दुःखद यह भी है कि भारत के इतिहासकारों और साहित्यकारों ने भी आज़ादी की इस पहली लड़ाई के घटनाक्रम पर कोई ध्यान ही नहीं दिया, इसलिए आमजन आज भी इस युद्ध से अपरिचित हैं। चिनहट का युद्ध अचानक नहीं हो गया था। इसके लिए उसी तरह की परिस्थितियों का निर्माण हो रहा था, जैसे 10 मई को मेरठ के विद्रोह के पीछे विकसित हुई घटनाएं जिम्मेदार थीं। अगर सब कुछ ठीक से चलता रहता, तो न कोई क्रांति होती, और न ही लोगों को कोई शिकायत। फिरंगी शासन करते रहते और यहाँ के संसाधनों का दोहन कर हमें अंधेरे युग में धकेलते रहते, पर कहते हैं कि सत्ता भ्रष्ट करती है, और निरंकुश सत्ता पूरी तरह से भ्रष्ट करती है। यह कहावत इन फिरंगियों के ऊपर ठीक बैठती थी। ये हमारे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए आकंठ भ्रष्ट आचरण में डूबने, स्थानीय लोगों के लगातार उत्पीड़न के साथ–साथ यहाँ के निवासियों की भावनाओं के प्रति भी दुस्साहसिक रूप से असंवेदनशील हो चुके थे। ऐसे में चिनहट के रूप में इन्हें अवध के लोगों और उनकी अपनी सेनाओं के स्थानीय सैनिकों के आक्रोश का सामना तो करना ही था। ऐसे में चिनहट के इस युद्ध से पूर्व की परिस्थितियों और उसके बाद के घटनाक्रम को समझना भी जरूरी है।

इस युद्ध से एक बात और महत्त्वपूर्ण रूप से उभर कर आई थी। स्थानीय लोगों ने अपनी सांस्कृतिक विरासत और संस्कारों के अनुरूप सिद्ध कर दिखाया था कि वे किसी भी आक्रांता के विरुद्ध जी–जान से लड़ने को तैयार हैं, पर मानवीयता उनके मानस का अटूट हिस्सा है, उनके वजूद में आत्मसात है, वे उससे भी पीछे नहीं हटने वाले। यही कारण था कि जब चिनहट के युद्ध में फिरंगियों ने हार के बाद हड़बड़ाहट में रेजीडेंसी की तरफ वापसी की तो लुटी–पिटी अवस्था में, जून की तपती गर्मी में उन भूखे–प्यासे अफसरों और सैनिकों को दूध–पानी पिलाने, उनकी सेवा–सुश्रूषा करने, खाद्य सामग्री उपलब्ध कराने में आम लोगों ने जो संवेदनशील भावनाएं दिखाईं, वे इन तथाकथित शिक्षित और आधुनिक, परंतु असंवेदनशील फिरंगियों के लिए आँखें खोल देने वाली घटनाएं थीं। फिरंगियों के खिलाफ धीरे–धीरे लखनऊ ही नहीं, पूरे अवध प्रांत का माहौल कुछ इस तरह

से आक्रोशित हो चला था कि यहाँ का हर इन्सान जन भावनाओं के सम्मान में ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता का विरोध करने को सक्रिय हो चला था। फिर बात राष्ट्रीय गौरव और अस्मिता की भी आ ठहरी थी। शहर और गाँवों के हर किसी वाशिंदे को इस सत्ता से शिकायत थी। मूल बात यह थी कि जन–मानस ने अच्छी तरह समझ लिया था कि ये लोग व्यापारियों के चोले में आये आक्रांता हैं और हम यहाँ के मूल निवासी, इस सांस्कृतिक और सामाजिक धरोहर के संरक्षक! हमारी ज़मीन और हमारे संसाधनों पर किसी विदेशी शक्ति का प्रभुत्व भला क्यों कायम रहे? चिनहट उसी असंतोष की एक आक्रामक अभिव्यक्ति थी। क्या कभी आपने ध्यान दिया है कि ब्रिटिश पक्ष जब भी 1857 की बात करता है तो वे लोग भारतीय विद्रोहियों के विरुद्ध अनेक किस्से–कहानियाँ और अपनी वीरता के बखान किया करते हैं, परंतु चिनहट की हार को वे मात्र एक छोटी–सी घटना, जो उनके आकलन की कमी से उनके विरुद्ध चली गई थी, कह कर ख़ारिज कर देते हैं। पर यह आपको सोचना है कि क्या यह बात सही है! उपलब्ध रेकॉर्ड्स और स्वयं उस समय रेजीडेंसी में निवास कर रहे अधिकारियों और उनके परिवारों के लोग इस विषय में एक अलग ही कहानी बताते हैं। कई ब्रिटिश लेखक और उस दौर के प्रत्यक्षदर्शी भी स्वीकार करते हैं कि चिनहट की हार उनकी रणनीतियों की असफलता तो थी ही, वह भारतीय विद्रोहियों के सैन्य बल के बेहतरीन सामंजस्य का परिणाम थी। उनमें से एक कहते हैं, "हमारी फौजें नुकसानदेह स्थिति में फंस गई थीं। हमें भाग कर अपनी जान बचानी पड़ी। फिर भी दो सौ से अधिक लोग मारे गए और अनगिनत घायल हुए थे। भारतीय विद्रोही हमसे कहीं बेहतर तरीके से यह युद्ध लड़े। यह सच बात यह है कि 1857 के भारतीय स्वतंत्रता इतिहास के प्रथम संग्राम के इस युद्ध में जिस जोरदार ढंग से फिरंगियों को घेरा गया, उसका उदाहरण न कभी पहले मिला, न बाद में। इस दृष्टि से यह घटनाक्रम स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम चरण का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। पुस्तक में पठनीयता बनाए रखने के लिए घटनाओं का काल्पनिक दृश्यांकन अवश्य प्रस्तुत किया गया है, पर यह मूल रूप से लिखित और अलिखित इतिहास पर आधारित है, उसका हिस्सा है। ऐसा इतिहास जिसकी पुष्टि स्वयं कुछ निष्पक्ष ब्रिटिश अफसरों, उनके परिजनों और प्रत्यक्षदर्शियों ने भी की थी। बरकत अहमद के नेतृत्व में, इस्माइलगंज गाँव के मैदान में सबसे पहले ब्रिटिश सैनिकों पर गोलियां चलाईं गई, जिससे दुश्मन के कई सैनिक मारे गए और देखते ही देखते बाजी भारतीय विद्रोहियों के हाथों में आ गई। काफी कशमकश के बाद तब ब्रिटिश अधिकारियों ने अपनी सेनाओं को पीछे हटने का आदेश दिया था। आइए, भारतीय जुनूनी लोगों की इस छोटी लेकिन महत्वपूर्ण जीत को फिर से जीवंत होता देखें, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के सैन्य बलों की पराजय के बाद लखनऊ की ब्रिटिश रेजीडेंसी में कई महीने की उनकी लंबी घेराबंदी में तब्दील हो गई थी। इस युद्ध के विषय में प्रामाणिक तथ्यों की बहुत कमी है। ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसरों, उनके परिजनों और उनके पक्ष के लोगों की अपनी गाथाओं को लिखने पर कोई रोक नहीं थी, पर जब फिर से इस देश में ईस्ट इंडिया कंपनी–ब्रिटिश राज कायम हुआ, तो इस क्रांति का उल्लेख करना भी अपराध बन गया था। इसलिए भारतीय इस युद्ध का अपना कोई पक्ष नहीं लिख सके। ऐसे में अंग्रेजों के उपलब्ध विभिन्न संदिग्ध और पूर्वाग्रही स्रोतों से ही जुटाकर लिखने की, ताना–बाना जोड़ने की कोशिश की गई है। इससे एक असहजता यह हुई है कि उन भारतीय वीरों की गाथाएं वास्तविक रूप से हम लोगों के समक्ष भली–भांति सामने नहीं आ सकीं, जिन्होंने अवध के स्वतंत्रता संग्राम में फिरंगियों को मात देकर फिर से अपना प्रभुत्व कायम करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। उनमें से काफी लोग आज भी अनाम हैं, विस्मृत हैं, पर वे हमें हमारा सुखद भविष्य बनाने में अपनी आहुति देकर विदा हुए हैं, यह तथ्य अपनी जगह सुस्थापित है। फिरंगी हुकूमत के विरुद्ध इन वीरों के युद्ध, शौर्य और बलिदान की गाथाओं को खोज कर उन्हें लिपिबद्ध करने का

प्रयास गंभीरता से जारी रहना चाहिए। चिनहट के संग्राम के इस घटनाक्रम में क्रांतिकारी बरकत अहमद के साथ 22वीं बंगाल नेटिव इंफेंट्री के सिपाही, वाजिद अली शाह के सैनिक, अवध इररेगुलर इंफेंट्री के लोग भी शामिल थे। साथ ही थीं महोना, अयोध्या और आसपास के अन्य ताल्लुकेदारों की छोटी–छोटी सैनिक टुकड़ियां। इस लड़ाई में बरगवां के शिवआधार और शेरपुर पूरब गांव के दयाशंकर समेत 175 भारतीय योद्धा भी शहीद हुए थे। चिनहट के युद्ध का परिणाम ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए बहुत दुःखद और प्रतिकूल प्रभाव वाला था, इतना तो सब जान गये थे। 30 जून, 1857 की यह तारीख चिनहट की पराजय के बाद इस रूप में भी ऐतिहासिक बन गई थी कि विद्रोहियों ने लखनऊ की घेराबंदी कर दी थी। एक तो चिनहट से ब्रिटिश सेनाओं को जान और माल का बहुत भारी नुकसान उठा कर वापसी करनी पड़ी, दूसरे उन्हें अपनी हार का यह ठीकरा उनकी सेना के देसी सैनिकों, खासतौर से तोपचियों के सिर पर डालने के लिए एकमत होना पड़ा। उन लोगों ने तय किया कि यह हार स्थानीय सैनिकों के द्रोह और मौके से हट जाने के कारण हुई थी। यह एक विवाद का विषय अवश्य है परंतु इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि विद्रोही सैन्य बलों की जीत की ख़बर पूरे जनपद और अन्य जगहों तक दूर–दूर तक फैल गई थी और साथ ही फैला था लखनऊ में अराजकता और विभ्रम की स्थिति का माहौल।

इन जुझारू योद्धाओं की स्मृति में चिनहट की कठौता झील के निकट के एक स्थल पर 1973 में भारत सरकार ने एक छोटे–से शहीद स्मारक का निर्माण कराया था। एक किनारे में सरकारी उदासीनता और लोगों की अज्ञानता से उपेक्षित यह छोटा–सा स्मारक वीरान पड़ा है। यह बात किसी भी प्रबुद्ध नागरिक की समझ से परे है कि क्यों उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के चिनहट अथवा आसपास के इलाके में उन जुझारू लोगों की वीरता का एक विशाल स्मारक नहीं बनाया जा सकता? आखिर यह वह गाथा थी जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी के राज को उखाड़ फेंकने का ऐसा आगाज़ किया था, जिससे उत्तर भारत में एकबारगी ब्रिटिश सत्ता वास्तव में डगमगा गई थी। वह भी तब जब इस युद्ध से हार कर भागे ब्रिटिश सैन्यबल के इन हादसे में मारे गए लोगों और तत्कालीन चीफ कमिश्नर का विशाल स्मारक प्रमुखता से स्थापित किया गया हो। किसी किनारे एक उपेक्षित जगह पर छोटा पत्थर भर लगा देने भर से इन वीरों को श्रद्धांजलि देने की कवायद पूरी नहीं हो जाती, यह तो हमारे इतिहास की गौरव गाथा है, इसलिए इसे विस्तार से जानने की आवश्यकता है और इसे अपनी राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

हमें देश के एक सजग नागरिक के नाते गुलामी की बेड़ियों के जंजाल के उस चुनौतीपूर्ण समय से निकलकर मुक्त हुए पुरखों के इन क्रांतिकारी कदमों की जानकारियाँ प्राप्त करने की चिंता होनी चाहिए। यह हम सबका अधिकार भी है और कर्तव्य भी कि इस घटनाक्रम को समझें और चिनहट की गौरव गाथा के अब तक गुमनाम रहे उन नायकों के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करें। ये वे लोग थे जो अपने किसी व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, देश की अस्मिता के लिए लड़ रहे थे। अगर चिनहट के युद्ध से उपजी सफलता में वे इस घटनाक्रम के अंत तक विजयी रहते तो देश निश्चित रूप में 90 वर्ष पूर्व आजाद हो जाता, पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो पाया। फिर भी, उन योद्धाओं का यह बड़ा योगदान था कि उन्होंने इस देश को गुलामी की जंज़ीरों से मुक्त कराने के लिए उस कठिन समय में संघर्ष किया, जब विदेशी आक्रांता अपनी शक्ति के उत्कर्ष पर था और उससे किसी युद्ध अथवा टकराव में असफल होने का अर्थ था अपनी ज़िंदगियों से हाथ धो बैठना। इस एक विशेष दिन, यानी 30 जून को हर वर्ष भारत के स्वतंत्रता संग्राम की गौरव गाथा को नमन करना, हमें उस जुनून को नमन करने के समान होगा, जिसने विदेशी आक्रान्ताओं से इस देश को मुक्ति दिलाने में जी–जान से योगदान दिया था। •

पता : विश्व बैंक कालोनी, नदरर्व गेट, कासगंज–207123

मो. : 9412674759

इलाहाबाद की पत्रकारिता और स्वाधीनता संग्राम

❑ उर्वशी उपाध्याय

जब भारतीय चेतना सुषुप्तावस्था में ''कोई नृप होहिं, हमें का हानी'' की भावना के साथ जी रही थी, उसी समय स्वतन्त्रता और समानता की प्राप्ति के लिए पत्रकारों ने कमर कस ली। जन–सामान्य को अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करने के लिए तैयार किया। राष्ट्रहित में सर्वस्व न्योछावर करने वाले पत्रों–पत्रकारों ने बुद्धिजीवि–वर्ग में चेतना का संचार किया। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि उस समय के राष्ट्ररोग की एकमात्र औषधि महाशक्ति का उद्बोधन ही था।

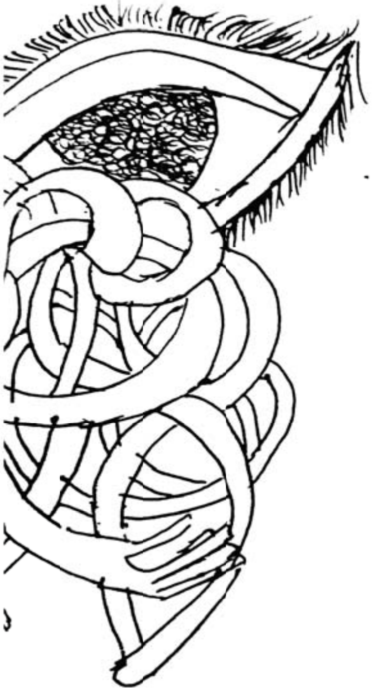

अकबर इलाहाबादी ने समाचारपत्रों की ताकत, पत्रकारों के जुनून एवं उसके प्रकाशन की कठिन राह को व्यक्त करते हुए कहा था–

''जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।'' प्रयाग की पत्र–पत्रिकाएँ, सम्पादक एवं पत्रकार स्वाधीनता संग्राम के प्रति जनसामान्य की सुषुप्तावस्था में पड़ी राष्ट्रीयता की चिनगारी को ज्वाला बनाते रहे, जिससे प्रयाग की धरती सर्वाधिक आन्दोलनों और विरोध–प्रदर्शनों की गवाह बनी।

अँग्रेजी शासन के काले कानून पत्र–पत्रिकाओं पर कब जुर्माना या प्रतिबन्ध लगा देंगे, कहा नहीं जा सकता था, प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं को ज़ब्त कर लिया जाता था। लेखकों, सम्पादकों को कारावास, काले पानी की सजा तक भुगतनी पड़ती थी। कभी–कभी उन्हें लम्बी धनराशि जुर्माने के तौर पर जमा करनी पड़ जाती थी, लेकिन सम्पादकों–पत्रकारों ने आज़ादी के आन्दोलन में अपनी यह भूमिका स्वतः तय की थी, अतः जेल और जुर्माने उनके हौसले को पस्त नहीं कर सके।

1907 ई. में प्रकाशित 'स्वराज' साप्ताहिक उर्दू–समाचारपत्र ने शान्त जल में उठे ज़ोरदार हलचल का एहसास कराया था। इलाहाबाद की धरती से प्रकाशित इस समाचारपत्र को शान्तिनारायण भटनागर ने आरम्भ किया था। पूर्व में पंजाब के एक समाचारपत्र में उपसम्पादक के रूप में कार्य कर चुके भटनागर जी को समाचारपत्र–प्रकाशन का अनुभव था। कुछ दिनों तक वे अँग्रेजों की चाकरी में भी रहे। उन्होंने अचानक नौकरी छोड़ दी। ऐसे में, चिन्ताग्रस्त भटनागर जी को देखकर उनकी पत्नी ने कारण पूछा, तब उन्होंने कहा–एक साप्ताहिक पत्र निकालने की इच्छा है। सोचता हूँ, बिना धन के यह कैसे संभव हो पायेगा?

'स्वराज' के लिए भटनागर जी के मन में समर्पण, स्वाधीनता संग्राम की राह में युवाओं का आह्वान करने का संकल्प देखकर उनकी पत्नी ने अपने स्वर्णाभूषण अपने पति के सम्मुख रख दिये। इन्हीं आभूषणों को बेचकर साप्ताहिक अखबार 'स्वराज' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। राष्ट्र को समर्पित 'स्वराज' के नौ सम्पादकों को अँगरेज सरकार के क्रूर दमन का शिकार होना पड़ा। पंजाब के फील्ड मार्शल लद्धाराम इसी पत्र के सम्पादक थे। स्वराज के पूर्व–सम्पादक को जब अण्डमान भेजा गया तब लद्धाराम पंजाब से इलाहाबाद आये और स्वराज का सम्पादन किया। उनके तीन सम्पादकीय लेखों के कारण उन्हें 10, 10.10 अर्थात् 30 वर्षों तक काले पानी की सजा दी गयी। वास्तव में, स्वराज साप्ताहिक देश–भक्ति की कसौटी था। राष्ट्रीय दृष्टि से यह पत्र अनोखा था, जिसके सम्पादक होने का अर्थ ही था, काले पानी की सज़ा भुगतना ।

'स्वराज' के सम्पादक पद पर नियुक्ति हेतु विज्ञापन में प्रयुक्त पंक्तियाँ अविस्मरणीय हो चुकी हैं– ''चाहिए 'स्वराज' के लिए एक सम्पादक। वेतन दो सूखी रोटी, एक गिलास ठंडा पानी और हर सम्पादकीय पर दस वर्ष जेल।''

'स्वराज' के पहले अंक (नवम्बर, 1907 ई.) के प्रकाशन के द्वारा पंजाब केसरी लाला लाजपत राय और सरदार भगत सिंह के चाचा सरदार अजीत सिंह का अभिनन्दन किया गया। 'स्वराज' ने अपनी सामग्री द्वारा राष्ट्रीय अपमान के अवसान और स्वतन्त्रता के विहान की कामना सदैव प्रकट की, जिसको पूरा करने के लिए निर्भीक लेखन और अँग्रेजी शासन के विरोध में प्रकाशन अनवरत चलता रहा, जिसके अपराध में शान्तिनारायण भटनागर, रामदास, होरीलाल वर्मा, बाबूराम हरी, मुंशी रामसेवक, नन्दलाल चोपड़ा, लद्धाराम कपूर और पंडित अमीर चन्द्र बम्बवाल को न्यायालय द्वारा दंडित किया गया। पत्र की सपाटबयानी और निर्भीकता का प्रमाण है कि 'रौलेट कमीशन के सर शैटेल, सर बासिल स्काट, सी.वी. कुमारस्वामी, बर्नेलोवेट तथा पी.सी. मित्तल ने इस पत्र का उल्लेख कमीशन की रिपोर्ट में किया।

इलाहाबाद के व्यस्ततम इलाके में शामिल चौक के नीम के पेड़ (1857) पर अंग्रेजी शासन द्वारा एक साथ सैकड़ों क्रान्तिकारियों को फाँसी पर लटका दिया गया। 13 वर्षीय बालक बालकृष्ण भट्ट ने जब यह दृश्य देखा तब उसका मन अँग्रेजों के खिलाफ घृणा और आक्रोश से भर गया। 1876 ई. में कुछ सजग विद्यार्थियों ने 'हिन्दीवर्द्धिनी' सभा का गठन किया। इस सभा में सर्वसम्मति से फैसला लिया गया कि एक ऐसी पत्रिका निकाली जाये, जो अँग्रेजों की नीद उड़ा दे। आर्थिक सहयोग के रूप में सभी को 4–4 रु. जमा करने की बात भी हुई, लेकिन कई विद्यार्थी स्वतः इससे अलग हो गये। अब जो लोग साथ रह गये, उन्होंने बालकृष्ण की अगुआई में 'हिन्दी प्रदीप' पत्रिका की योजना को साकार रूप दिया। हिन्दी प्रदीप का प्रथम अंक 1877 ई. को प्रकाशित हुआ था। पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लिखा था :–

''शुक सरस देश सनेह पूरित, प्रगट होय आनन्द भरै।
बलि दुसह दुर्जन वापु सो, मनिदीप समरिथ नहिं टरै।
सूझे विवेक विचार उन्नति, कुमति सब या में जरै।
हिन्दी प्रदीप प्रकाश मूरख ताहि भारत तम हरै।''

इस पत्रिका से कई लेखकों–पत्रकारों का अस्तित्व उभरा, जिनमें राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, आगम शरण, श्रीधर पाठक, मदनमोहन शुक्ल, पं. माधव शुक्ल, परसन आदि मुख्य थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू रतन चन्द्र, सावित्री देवी भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे। सत्य और निर्भीक पत्रकारिता, सम्पादन और लेखन हिन्दी प्रदीप की पहचान थी। बालकृष्ण भट्ट ने तमाम विपरीत परिस्थितियों एवं चुनौतियों के साथ भी अपनी ओजस्वी विचारधारा और निर्भीक पत्रकारिता से क्रान्ति की मशाल जलाये रखी।

1905 ई. में जब बंगाल विभाजन का हर ओर विरोध हो रहा था। एक सभा प्रयाग में किले के समीप यमुना के किनारे आयोजित हुई। लगभग 400 की संख्या में लोग मौजूद थे। बालकृष्ण सभा को सम्बोधित कर रहे थे। उनके सख़्त तेवर पर अँगरेजी जासूसों की नज़र न जाये, इसलिए किसी ने उनके वस्त्र को खींचते हुए सँभल कर बोलने को कहा। बालकृष्ण भट्ट ने इस पर अपनी निर्भीकता का परिचय देते हुए कहा था :–

''हमार अंगरखा खींचत हौ चाहत हौ हम बोली न।
लगी है हिय में आग, कही हम काहे न।''

प्रयाग प्रेस से आरम्भ हुआ 'हिन्दी प्रदीप' 1877 ई. में सरस्वती यन्त्रालय में और फिर यूनियन प्रेस में छपा। अँगरेजी राज में छपवाना कठिन हो रहा था, अतः अलग–अलग प्रेस में छपवाने की बाध्यता बनी रही। कई बार बालकृष्ण भट्ट को नामचीन मुद्रक यह भी कहने लगे थे, कि ''पं. जी! आप यहाँ न आयें, आपके आने से हमारी छवि खराब होती है।''

पं. जी के बगावती तेवर के चलते हर प्रकार के विरोधी स्वर की रचनाएँ 'हिन्दी प्रदीप' में छपती रहीं और अँग्रेजी राज के लिए मुश्किल पैदा होती रही। सम्पादक की निर्भीक

सोच के परिणामस्वरूप माधवराव शुक्ला की कविता 'बम क्या है' का प्रकाशन हिन्दी प्रदीप में हुआ, जिसे अँग्रेजी शासन का विरोधी स्वर माना गया और यह प्रेस और पत्र बन्द कर दिया गया था। इलाहाबाद में छपने वाला पहला अख़बार अँग्रेजी 'पायनियर' (1876) था, जिसे अँग्रेजी शासन की नीतियों के प्रचार–प्रसार के लिए प्रकाशित किया जाता था। इसकी लोकप्रियता के कारण पायनियर प्रेस के आसपास का क्षेत्र पायनियर के प्रथम सम्पादक सर जार्ज एलन के नाम से 'एलनगंज' कहा जाने लगा।

यह पत्र लंदन तक पढ़ा जाता था। साप्ताहिक से प्रारम्भ होकर यह समाचार पत्र कुछ ही दिनों में दैनिक पत्र बन गया।

24 अक्तूबर, 1910 ई. को इलाहाबाद से 'द लीडर' अँग्रेजी समाचारपत्र का प्रकाशन होने लगा था। न्यूज पेपर लिमिटेड नाम की कंपनी के जरिए निकलने वाले लीडर में पहले से निकलने वाला 'इंडियन पीपुल्स' भी समायोजित कर दिया गया। सी.वाई. चिंतामणि इसके प्रथम सम्पादक रहे। इस पत्र का आरम्भ पं. मदनमोहन मालवीय ने किया था। अँग्रेजी शासन के खिलाफ जनचेतना का विस्तार इसका मुख्य उद्देश्य था। लीडर का हिन्दी–संस्करण भारत के नाम से 1921 ई. में आरम्भ हुआ था। क्रान्ति के स्वर लेकर 'लीडर' और 'भारत' का प्रकाशन चल ही रहा था कि इसके प्रकाशन में आर्थिक गतिरोध आने लगे। पत्र का प्रकाशन अवरुद्ध होने लगा था, लेकिन तभी पं. मदनमोहन मालवीय काशी विश्वविद्यालय का कार्य बीच में ही छोड़कर विकल्प की तलाश में लग गये। संसाधन न मिलने पर वे अपनी पत्नी के सम्मुख पहुंचे और अपने पाँचवें पुत्र के रूप में 'द लीडर' और 'भारत' की जीवन की याचना करने लगे। उनकी पत्नी ने सहर्ष अपने आभूषण एवं जमापूँजी उनको दे दी। इस प्रकार यह पत्र बच गया।

सरस्वती में प्रकाशित 1900 ई. में चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन शुरू कर दिया था। प्रारम्भ में इसका सम्पादन नागरी प्रचारणी सभा के पाँच सदस्य करते थे। दो वर्षों के बाद इसका प्रकाशन बाबू श्यामसुन्दर दास करने लगे। 1903 से 1920 ई. तक इसका संपादन पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया, तत्पश्चात् पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी–जैसे अन्य विद्वानों ने इसका सम्पादन किया।

सरस्वती में प्रकाशित लेख और सम्पादकीय में राष्ट्रीयता की भावना सदैव सर्वोपरि थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में जुलाई, 1903 के अंक में गांधी जी के विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार आन्दोलन बहुत पहले स्वदेशी की भावना को पुष्ट करते हुए लिखा था :–

''अपना बोया आप ही खावें।
अपना कपड़ा आप बनावें।।''

सरस्वती के नवम्बर, 1906 ई. में लिखा गया था :–

"हे भामिनिओं, कुल कामिनियों, ये चूडियाँ हैं परदेशियों की। कलंक भारी पहनो इन्हें, जो छोड़ो, ज़रा तो मन में लजाओ।''

प्रयाग की पत्र–पत्रिकाओं में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में क्रान्ति के स्वर मुखरित होते रहते थे। 1907 ई. में वसंतपंचमी के दिन पं. मदनमोहन मालवीय ने 'अभ्युदय' का प्रकाशन आरम्भ किया था। सुन्दरलाल ने 'कर्मयोगी', फिर 'भविष्य' नामक साप्ताहिक समाचारपत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। पंडित सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अँग्रेजी राज' प्रकाशित होने के साथ ही जब्त हो गयी। गांधी जी ने इसे 'ज़िंदा बम' की संज्ञा दी थी। 1906 ई. में कृष्णकान्त मालवीय ने 'मर्यादा' नाम से पत्रिका आरम्भ किया। 1914 ई. में संस्कृत मासिक पत्रिका 'शारदा' प्रकाशित होने लगी थी। 1920 ई. में प्रारम्भ हुए 'चाँद' नामक मासिक पत्र का 'फाँसी' अंक बहुत चर्चित रहा। पायनियर के जवाब में अयोध्यानाथ द्वारा निकाला गया अखबार 'इंडियन हेराल्ड', 'इंडिपेंडेंट' जैसे पत्र क्रान्ति के स्वर को निनादित करते रहे। ''पत्रकारों के पैरों के छालों से इतिहास लिखा जाता है'' महादेवी वर्मा के द्वारा कहे गये वाक्य का एक–एक शब्द स्वतन्त्रता आन्दोलनों में इलाहाबाद के पत्र–पत्रिकाओं, सम्पादकों एवं पत्रकारों की भूमिका को अभिव्यक्त करता है।

स्वतन्त्रता आन्दोलनों के समय प्रयाग में पत्रकारिता राष्ट्रीयता का पर्याय थी। इसका लक्ष्य राष्ट्रीय अस्मिता, एकता, अखंडता, स्वतन्त्रता एवं देशभक्ति के प्रति भारतीय जनमानस को प्रेरित करना था। अधिकतर पत्रकार, स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े हुए थे। स्वतन्त्रता संग्राम के समय जनजागरण, समाजसुधार, शिक्षा के साथ–साथ राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत् कर अँग्रेजी शासन के खिलाफ आन्दोलनों को गति देने का कार्य प्रयाग की भूमि पर लगातार हुआ। यहाँ की पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से सम्पादकों एवं पत्रकारों ने जिस निष्ठा एवं समर्पण के साथ अपनी लेखनी का प्रयोग किया, उसका ही परिणाम था कि स्वाधीनता के लिए सर्वाधिक आन्दोलन प्रयाग की धरती पर ही हुए। •

पता : 1196, किदवई नगर, अलापुर, प्रयागराज–211006
मो. : 9935533839

राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका

❑ तबस्सुम खान

इस में दो राय नहीं कि भारत में क्रान्तिकार आन्दोलन की शुरूआत पुरूषों ने की। प्रारम्भिक आन्दोलन में कुछ महिलायें ही शामिल हुयी थीं। जैसा संन्यासी विद्रोह से लेकर आजाद हिन्द फौज तक लम्बे सशस्त्र संघर्ष में महिलाओं का नाम हर स्तर से अग्रणी रूप से जुड़ा हुआ है। अगर 1857 की बात की जाये स्वाधीनता संग्राम की प्रथम लड़ाई में रानी लक्ष्मी बाई, जीनत महल, बेगम हज़रत महल, उदा देवी, झलकारी बाई जैसे तमाम नामों की सूची मिलती है। बाद में गाँधी जी ने महिलाओं को राष्ट्रीय आन्दोलनों में जोड़ने की कोशिश की ''यंग इण्डिया'' में कहा था कि जब भारत की महिलायें जागृत हो जायेंगी, तो स्वतंत्रता कोई नहीं रोक सकता।

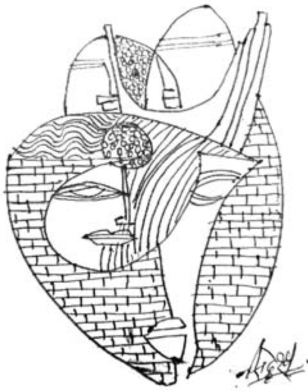

राष्ट्रीय आन्दोलन का वैधानिकीरण :– साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ संघर्ष में समय के हर वर्ग की महिलाओं ने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया। इनमें रूढ़िवादी भारतीय परिवारों से लेकर शहरी, ग्रामीण, जवान, वृद्ध, विवाहित, अविवाहित हर वर्ग की महिलाएं शामिल थीं। संख्या में कम होने के बावजूद इस आन्दोलन में उनकी भागीदारी काफी महत्वपूर्ण थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके आरम्भिक योगदान

बंकिम चन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित उपन्यास ''आनन्दमठ'' मातृभूमि के लिए खुद को बलिदान देने वाले क्रान्तिकारियों को समर्पित था। उनका भावुक गीत ''वंदे मातरम'' पूरे भारत में प्रसिद्ध हुआ। इस गीत ने सिर्फ मातृभूमि की रक्षा का आहवाहन करके महिलाओं को राजनीतिक आन्दोलन से जोड़ा, स्थिति में व्यापक परिवर्तन उस समय आया,

जब इल्बर्ट बिल के समर्थन में अनगिनत बंगाली महिलाओं ने वायसराय को पत्र लिखा। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के चार वर्ष बाद 1889 में इसकी वार्षिक बैठक में 10 महिलाओं ने भाग लिया। 1890 में स्वर्णकुमारी घोषाल नामक उपन्यासकार एवं कांदम्बिनी गांगुली नामक पहली महिला स्नातक और पहली महली डॉक्टर ने एक प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व किया।

इसके बाद कांग्रेस के हर अधिवेशन में महिलाओं ने बड़ी संख्या में हिस्सेदारी की और अब वे सिर्फ प्रतिनिधि के तौर पर ही नहीं बल्कि पर्यवेक्षक के तौर पर भी शामिल होने लगी। पिता और पतियों के साथ उनका योगदान काफी आकर्षक और प्रतीकात्मक था।

स्वदेशी आन्दोलन में सहभागिता :–

1905 में जब अंग्रेजों ने बंगाल का विभाजन किया। उस समय महिलाओं ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं की खरीदारी के माध्यम से विरोध प्रदर्शन करके पुरुषों का पूरा

साथ दिया। इसी आन्दोलन के दौरान सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में छापामार गुट को पुलिस की ऐसी बर्बरता का शिकार होना पड़ा कि उसे देखकर अधिसंख्य पर्यवेक्षक स्तब्ध रह गए।

स्त्रियों को इन गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रेरित करना तथा उनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए महिलाओं के अलग संगठन तैयार किए गए नए संगठनों में शामिल थे– देश सेविका संघ, नारी सत्याग्रह समिति, महिला राष्ट्रीय संघ, लेडीज़ पिकेटिंग बोर्ड, स्त्री स्वराज्य संघ तथा स्वयं सेविका संघ। इनमें से अनेक संस्थाओं ने न केवल महिलाओं के प्रदर्शन जुलूसों का आयोजन किया, बल्कि घेराव, तथा प्रभात फेरी के साथ–साथ स्त्रियों को चर्खा चलाने का प्रशिक्षण देने के साथ–साथ खादी बेचने तथा उसका प्रचार करने का काम भी किया।

महिला आन्दोलनकारियों ने 'मंदिरा' नामक एक पत्रिका के प्रकाशन तथा राजनीतिक कैदियों की रिहाई की माँग करने के लिए नुक्कड़ सभाएँ आयोजित करने का निर्णय लिया। स्वाधीनता संग्राम में महिलाओं की सहभागिता इस कदर बढ़ी कि अखिल भारतीय छात्र महासंघ को एक अलग महिला विद्यार्थी समिति बनानी पड़ी जिसने लखनऊ में सन् 1940 में हुए पहले महिला विद्यार्थी सम्मेलन में भाग लिया।

गाँधी जी ने दाँडी यात्रा में महिलाओं को न लेने के पक्ष में अपनी दलील दी कि उन्होंने स्त्रियों के लिए मात्र नमक कानून तोड़ने के छोटे से काम के बजाय ''बड़ी भूमिका तय की है''। कमला देवी चट्टोपाध्याय के अनुसार गाँधी जी द्वारा स्त्रियों को अलग रखने का निर्णय मात्र दांडी यात्रा तक ही सीमित था। साथ ही उनका यह भी मत है कि गाँधी नहीं अपितु कांग्रेस कमेटी थी, जिसने स्त्रियों को नमक सत्याग्रह से अलग रखने का निर्णय लिया था।

कमला देवी ने कहा कि दांडी यात्रा के आयोजको ने जब स्त्रियों की यात्रा में शामिल होने की माँग ठुकरा दी, तब वे गाँधी जी के पास गई और उनसे स्त्रियों को दांडी यात्रा में शामिल होने का विशेष आह्वन करने का अनुरोध किया। गाँधी जी उनकी बात सुनकर हँस पड़े और कहा कि वे ऐसा कर सकती है। फिर भी, कमला देवी के अनुरोध पर उन्होंने एक संक्षिप्त अपील लिखी। इस अपील को लेकर वे कांग्रेस कमेटी में गई और उसे पढ़ने के पश्चात् कांग्रेस कमेटी ने अंततः अपना वीटो वापस ले लिया।

दांडी यात्रा के अंतिम दिन सरोजिनी नायडू उसमें शामिल हुईं, वो नमक सत्याग्रह में गिरफ्तार होने वाली वे पहली महिला थी। नीता कुमार लिखती है कि अपना वीटो समाप्त करने के बाद कांग्रेस कमेटी ने सारे देश में सत्याग्राहियों का नेतृत्व करने के लिए महिलाओं का चयन किया। सत्याग्रह आयोजित करने के लिए प्रकोष्ठ बनाए गए। सरोजिनी नायडू, लाडो रानी जुत्शी, कमला नेहरू, हंसा मेहता, सत्यवती, अवंतिकाबाई गोखले, पार्वतीबाई, रुक्मिणी लक्ष्मीपति, पेरिन एवं गोशीवेन कैप्टेन, लीलावती मुंशी, दुर्गाबाई देशमुख तथा कमला देवी चट्टोपाध्याय जैसी कई महिलाओं को इस रूप में काम करने के लिए चुना गया।

सारे देश की लाखों स्त्रियों ने नमक सत्याग्रह में शामिल होकर नमक बनाना तथा नमक कानून को तोड़ना शुरू किया। वास्तविकता यह है कि इस आंदोलन से।

राष्ट्रवादी आंदोलन में बड़े पैमाने पर स्त्रियों की सहभागिता दिखाई पड़ी। नमक सत्याग्रह को आमतौर पर भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष मे पहली बार भारतीय स्त्रियों की व्यापक सहभागिता के रूप में याद किया जाता है।

अनेक राष्ट्रवादी महिलाओं पर इसके प्रभाव को रेखांकित करते हुए नमक सत्याग्रह के पहले दिन कमला देवी चट्टोपाध्याय ने अपने सारगर्भित भाषण मे इसे एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू तथा मारग्रेट कूजिंस की लय में अत्यंत 'यादगार' क्षण बताया।

स्त्रियां जैसे–जैसे राष्ट्रवादी बनती गई, उनका रूझान स्वाभाविक तौर पर खेतिहर स्त्रियों की ओर बढ़ा। जैसा कि गाँधी जी ने सन् 1920 के दशक के आख़िरी दिनों में उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा– ''पश्चिमी सभ्यता की ऊँचाइयों से उतरकर भारत के मैदानों में आओ, क्योंकि यह प्रश्न भारत की आज़ादी, स्त्रियों की आज़ादी, अस्पृश्यता के ख़ात्मे तथा आम लोगों की आर्थिक दशा सुधारने से जुड़ा हुआ है। अपने आप को गाँवों से जोड़ो, ग्रामीण जीवन का सुधार करने की बजाय उसका पुनर्निमाण करो।''

सन् 1931 में बंगाल में स्थापित लेडीज पिकेटिंग बोर्ड इसी प्रकार का एक प्रतिनिधि संगठन था। उसके निम्नलिखित उद्देश्य थे– विदेशी वस्तुओं के विरूद्ध संघर्ष, गृह उद्योगों को लोकप्रिय बनाने के साथ–साथ कुटीर उद्योगों के विकास में सहायता खासतौर से खादी कातने एवं बुनाई के मामले में, स्वाधीनता की महानता तथा देश में समानता के महत्व को बताने के लिए जुलूसों का आयोजन, अस्पृश्यता दूर करने की आवश्यता पर उपदेश, जितना संभव हो सके।

लेडीज़ पिकेटिंग बोर्ड की संगठन की सुविधा के लिए पाँच विभागों में बाँटा गया– घेराव एवं बहिष्कार विभाग,

स्वदेशी, प्रचार विभाग, प्रभात फेरी विभाग, रचनात्मक कार्यकर्ता तथा सामान्य विभाग । बम्बई में ज्यादातर कपड़ा मिलों में महिला श्रमिकों के मध्य 'देश सेविका संघ' सक्रिय था, जिस पर सन् 1931 में प्रतिबंध लगा दिया गया। बाकी संगठनों पर इसके एक वर्ष बाद प्रतिबंध लगाया गया।

इस मौके पर राष्ट्रवादी महिलाओं का पुलिस के प्रतिरोध से पहली बार पाला पड़ा। सन् 1920 के दशक में महिलाओं की विशेष भूमिका शायद यह सोचकर बनाई गई थी कि स्त्री होने के कारण उन्हें शारीरिक यातना का शिकार नहीं बनाया जाएगा और वैसा उस समय हुआ भी, परन्तु 1930 के दशक के आंदोलन में यह मान्यता ज़्यादा दिनों तक टिकी नहीं रह सकी।

ब्रिटिश बर्बरता का धरसना एक मात्र उदाहरण नहीं था। अप्रैल सन 1930 में जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू के नेतृत्व में हुए महिलाओं के एक प्रदर्शन पर पुलिस ने लाठीचार्ज किया तथा लाठी सिर पर लगने से वह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी।

जुलाई 1930 में तिलक की सालगिरह मनाने के लिए हंसा मेहता के नेतृत्व में निकाले गए जुलूस पर लाठीचार्ज किया गया तथा कमला नेहरू, अमृता कौर, मणिबेन पटेल एवं हंसा मेहता समेत लगभग एक सौ स्त्रियों को गिरफ्तार कर लिया गया।

मद्रास में पुलिस ने स्त्री सत्याग्राहियों पर लाठीचार्ज के अलावा दूसरे तरीके भी अपनाए। इन तरीकों में से एक था घेराव करने वाली स्त्रियों पर पानी की तेज़ धार फेंकना। 'द हिन्दू' नामक अखबार ने अपने 25 जनवरी, 1932 के अंक में लिखा कि ''दो महिला कार्यकर्ताओं पर यह तरीका इस्तेमाल किया गया जिसके कारण वे बेहोश हो गई। पुलिस ने किसी को भी उनकी सहायता के लिए उनके पास नहीं जाने दिया।''

इस प्रकार अंग्रेजों की बर्बरतापूर्ण कार्यवाइयों की ख़बर से अखबार भरे पड़े थे। समाज सुधार तथा राष्ट्रवादी पत्रिकाओं ने पुलिस की जम कर निंदा की। कांग्रेस के बुलेटिनों में महिलाओं से होने वाले दुर्व्यवहार पर विशेष लेख छापे गए। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (एआईडब्लूसी) ने सन् 1931 में होने वाले अपने लाहौर अधिवेंशन के लिए एक विशेष रिपोर्ट तैयार की।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान गिरफ्तार होने वाली महिलाओं की संख्या में तेज़ी से वृद्धि हुई बम्बई में सन् 1930 में चुनावों का बहिष्कार करने वाली 400 स्त्रियों को गिरफ्तार कर लिया गया। उनका घेराव इतना जबरदस्त था कि सरकार को चुनाव एक दिन के लिए टाल देना पड़ा। गिरफ्तार स्त्रियों को सख़्त सज़ा सुनाई गई।

इसी प्रकार घर–घर जाकर खादी बेचने के जुर्म में इंदुमती गोयनका को नौ महीने की कैद की सज़ा तथा होसपेठ में निषेधाज्ञा का उल्लंघन करने के लिए जयलक्ष्मी केशवराव को सात महीने की जेल की सज़ा सुनाई गई।

1930 के दशक में राष्ट्रवादी गतिविधियों की सक्रियता का एक महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि नारीवाद के संदर्भ में नारीवादी आंदोलन पर उच्चवर्गीय स्त्रियों का प्रभाव समाप्त हुआ। उदाहरण के तौर पर अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में पहले महारानियों को अध्यक्ष बनाया जाता था। 1930 के दशक में महिलाओं ने महसूस किया कि ऐसी अध्यक्ष मात्र 'मुखौटा' होती है। जबकि अखिल भारतीय महिला सम्मेलन सक्रिय स्त्रियों का संगठन है, इसलिए किसी सक्रिय महिला को इसका अध्यक्ष बनाए जाने की ज़रूरत है। इसीलिए सन 1931 में सरोजिनी नायडू को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में मुख्यतः उदारवादी नेताओं ने भाग लिया किन्तु साथ ही भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधियों ने भी इसमें भाग लिया। बेगम शाहनबाज़ तथा कमला सुब्बारायन भी उनमें शामिल थी। वे दोनों ही महिलाओं को चुनाव के लिए आरक्षण देने की हिमायत करने वाली लॉबी की सदस्य थी। इनका मत था कि महिलाओं को आरक्षण देने के बाद ही पुरूषों की समानता की जा सकती है। राष्ट्रवादी स्त्रियों ने उनकी इस दलील का विरोध किया तथा राष्ट्रीय स्त्री सभा एवं देश सेविका संघ ने गोलमेज सम्मेलन में बेगम शाहनबाज तथा कमला सुब्बारायन के शामिल होने के विरोध में प्रदर्शन आयोजित किया।

1930 का दशक सविनय अवज्ञा के गाँधी वादी आन्दोलन के साथ–साथ क्रांतिकारी आन्दोलन में भी महिलाओं की बढ़ी सहभागिता का दशक था। चिटगाँव आन्दोलन के प्रथम चरण में स्त्रियों की अप्रत्यक्ष भागीदारी थी। सरकारी दमन से इसमें कमी नहीं आती दिखाई पड़ती। बहरहाल उग्रवादी गतिविधियाँ जारी रही, बड़ी संख्या में लड़कियाँ क्रांतिकारी गुटों में शामिल हुई या उन्होंने अपनी मर्जी से खुद को सीधी कार्रवाई में झोंक दिया। •

पता : प्रवक्ता इतिहास, अमीरूद्दौला इस्लामिया डिग्री कालेज, लालबाग, लखनऊ

मो. : 6388899582

ज़रा याद इन्हें भी कर लो

❑ डॉ. सुयश मिश्रा

''जो उमर देश पर चढ़े नहीं, तो फिर वह व्यर्थ जवानी है।
जो खून न हो अर्पित मां को, वह खून नहीं है, पानी है।।''

1942 का साल था, जब भारत छोड़ो आंदोलन अपने चरम पर था। चारों ओर स्वतंत्रता की लहरें तेज हो चुकी थीं। अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ विद्रोह का बिगुल बज चुका था। हर भारतीय के दिल में स्वतंत्रता की तड़प और दमन के खिलाफ विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी। भारत माता की गुलामी की जंजीरों को देखकर युवा का खून खौल रहा था। देश में हर जगह स्वतंत्रता के लिए आंदोलन हो रहे थे। लखनऊ से लगभग 30 किलोमीटर दूर स्थित कुम्हरावां गांव भी इस महासंग्राम से अछूता नहीं था। यह छोटा सा गांव, जो पहले साधारण जीवन व्यतीत कर रहा था, अब क्षेत्र में क्रांति का केंद्र बन चुका था। यहां के लोग भी इस लड़ाई में कूद पड़े थे। 13 वीर सेनानियों ने गांव से आगे बढ़कर अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह का बिगुल फूंक दिया था। क्षेत्र में क्रांति की लहरें इस कदर फैल चुकी थीं कि हर व्यक्ति, चाहे वो युवा हो या बुजुर्ग, अपने हिस्से की लड़ाई लड़ने के लिए तैयार था। महिलाओं ने भी इस आंदोलन में पीछे न रहते हुए बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया। उनकी आंखों में स्वतंत्रता की चमक और दिल में देश के प्रति अपार प्रेम था। गांव के लोगों ने न सिर्फ अपने गांव को, बल्कि आसपास के क्षेत्रों को भी जागरूक किया और उन्हें स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित किया। कुम्हरावां के सेनानियों ने अंग्रेजों की ताकत से बिना डरे संघर्ष किया। वे अपनी जान की परवाह किए बिना देश की आजादी के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। लगभग 10 वर्ष पूर्व इस गांव के अंतिम स्वतंत्रता सेनानी भी स्वर्ग सिधार गए। उनके जाने के बाद भी उनकी यादें और उनकी कहानियां ग्रामीणों के दिलों में ज़िंदा हैं। जब भी उन वीरों की गाथाएं सुनाई जाती हैं, तो ग्रामीणों की आंखों में गर्व और दिल में उत्साह भर जाता है। वे अपने पूर्वजों की बहादुरी की कहानियां सुनाकर युवा पीढ़ी को प्रेरित करते हैं। कुम्हरावां के इन

सेनानियों की गाथा आज भी हमें यह सिखाती है कि जब देश की स्वतंत्रता और सम्मान की बात हो, तो हर भारतीय का कर्तव्य है कि वह अपने हिस्से की ज़िम्मेदारी निभाए। ये कहानियां सिर्फ इतिहास नहीं हैं, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं। कुम्हरावां के वीरों ने हमें सिखाया कि देश की आज़ादी के लिए त्याग, समर्पण और साहस की ज़रूरत होती है। आज भले ही वे सेनानी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी वीरता की अमर गाथाएं हमें यह याद दिलाती रहती हैं कि स्वतंत्रता की राह कभी भी आसान नहीं होती। स्वतंत्रता संग्राम सेनानी बचान प्रसाद शुक्ल, जिन्हें कुम्हरावां गांव के लोग प्यार से बच्चू बुलाते थे। गुलामी के दौर का उनका गीत 'चल दनादन फावड़े' आज भी गुनगुनाया जाता हैं। साल 1942 के उस रोमांचकारी दौर में जब द्वितीय विश्व युद्ध की गहमागहमी के बीच नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने 'दिल्ली चलो' का नारा बुलंद किया था और महात्मा गांधी ने 8 अगस्त, 1942 को 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' का सशक्त संदेश देकर पूरे देश को आज़ादी की राह पर एकजुट कर दिया था। सेनानी बचान शुक्ल और उनके साथी पहले से ही अंग्रजों के खिलाफ एक संगठन बनाकर लोगों में आज़ादी की ललक जगाने में लग गये थे। इस संगठन का नेतृत्व रामसागर और रामदेव आज़ाद के हाथों में था। गांव के कुल 13 स्वतंत्रता संग्राम सेनानी इस संगठन में मुख्य भूमिका में थे, जो अंग्रेजों के खिलाफ क्रांति की ज्वाला भड़काने के लिए पूरी तरह से तैयार थे। वैसे तो नेताजी सुभाष चंद्र बोस और महात्मा गांधी जी के आह्वान के बाद मानो युवाओं के भीतर स्वतंत्रता की तड़प और अधिक बलवती हो गई थी। आजादी के दीवानों ने अपने घर–परिवार छोड़ गांव–गांव जाकर आजादी की अलख जगाना शुरू कर दिया था। बचान शुक्ल और उनके साथियों ने खादी के कुर्ते, धोती और सफेद टोपी पहनकर स्वतंत्रता संग्राम का बिगुल बजा दिया था। उनका काम सिर्फ नारेबाजी तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने गांवों में छोटे–छोटे संगठन भी तैयार किए। रामदेव आजाद और राम सागर मिश्र के नेतृत्व में पलिया के मुलायम सिंह, टिकरी के चंद्रचूर्ण सिंह जैसे कई और सेनानी इस मुहिम में जुड़ गए। सबका एक ही लक्ष्य था 'आजादी'। न कोई भूख की चिंता थी, न नींद की। न भोजन की फिक्र और न मौत का डर बस 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा लेकर सभी क्रांति की आवाज बुलंद कर रहे थे।

हमारा गांव, जो इटौंजा पुलिस स्टेशन के पास था, धीरे–धीरे क्रांति की आग में धधक रहा था। अंग्रेजी हुकूमत से मुक्ति की ललक हर दिल में उमड़ रही थी। एक दिन, रामदेव आजाद, रामसागर मिश्र, सत्यशील मिश्रा, रामकुमार बाजपेई, फूलकली आजाद और बाबूलाल जैसे बहादुर सेनानियों ने फैसला किया कि अब समय आ गया है, जब खुलकर मैदान में उतरा जाए। फैसला लिया गया कि इटौंजा के पुलिस स्टेशन पर चढ़ाई कर अंग्रेजी सत्ता को चुनौती दी जाएगी। रामदेव आजाद ने पूरे इलाके में संदेश भिजवाया, "मंगलवार को हम सब मिलकर इटौंजा फतह करेंगे। यह संदेश हवा में आग की तरह फैल गया। आस–पास के गांवों से लोग जुटने लगे। सभी सेनानी एकजुट होकर तैयार हो गए। मई का महीना था और शायद मंगलवार का दिन, यह दिन इटौंजा पुलिस स्टेशन की तरफ कूच करने का था। लोग उसरना होते हुए धीरे–धीरे पुलिस स्टेशन की ओर बढ़ने लगे। इटौंजा पुलिस स्टेशन तक पहुंचने से पहले ही बचान शुक्ल, जो उस वक्त इस आंदोलन का हिस्सा थे, उनको भनक लग गई कि अंग्रेजी जासूसों ने दरोगा सुखराज सिंह को इसकी खबर दे दी है, लेकिन दिलों में आजादी की ऐसी लहर दौड़ रही थी कि जानकर भी कोई पीछे हटने को तैयार नहीं था। अब सेनानियों का हर कदम क्रांति की आवाज बन चुका था। "इंकलाब जिंदाबाद!", "भारत माता की जय!", और "अंग्रेजों भारत छोड़ो!" के नारों के साथ सेनानी आगे बढ़ रहे थे। इटौंजा थाने के पास पहुंचते ही अंग्रेजों के जत्थे ने सेनानियों को घेर लिया। एकलौती महिला सेनानी फूलकली आजाद, जो सबसे आगे थीं, ने दरोगा सुखराज सिंह से कहा, 'तुम्हें वर्दी उतारकर हमारे साथ आना चाहिए। यही मौका है, जब हम अपनी मिट्टी से अंग्रेजों को भारत से बाहर खदेड़ सकते हैं।' दरोगा कुछ असमंजस में था, लेकिन उससे पहले कि कुछ और होता, सेनानियों का साहस और जोश बढ़ने लगा। कुछ सेनानी थाने की दीवार पर चढ़ने लगे, तभी एक अंग्रेज चिल्लाया, 'कैच हिम, कैच हिम!' परन्तु अंग्रेजी सैनिकों की संख्या बहुत कम थी, और सेनानियों ने तेजी से थाने को चारों ओर से घेर लिया।

सेनानियों के नारों की गूंज के साथ उनके शरीर में खून तेजी से दौड़ने लगा था। चेहरों पर गुस्सा और जुनून एक साथ नजर आ रहा था। तिरंगे को थाने पर फहराने का सपना सेनानियों के मन में ज्वार की तरह उमड़ रहा था।"

अंग्रेज सैनिक भयभीत थे क्योंकि सेनानियों का संख्याबल ज्यादा था वहीं थाने में भी आधे से ज्यादा भारतीय सिपाही थे। कुछ ही पल में, सेनानियों ने दीवार पर चढ़कर इटौंजा थाने पर तिरंगा फहरा दिया। इटौंजा थाने पर तिरंगा लहराने के बाद, सेनानियों के चेहरे पर जीत की चमक थी। आजादी की यह छोटी लेकिन महत्वपूर्ण जीत, स्वतंत्रता संग्राम का एक यादगार अध्याय बन गई। अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ यह पूरे देश को एक सशक्त संदेश था कि भारत अब और अधिक गुलामी सहन नहीं करेगा। हालांकि यह आजादी बस कुछ ही क्षण रही, क्योंकि उच्च अधिकारियों को इसकी भनक पहले ही लग गई थी। थोड़ी ही देर में घोड़ों पर सवार अंग्रेजी बटालियन थाने पहुंच गई और लाठीचार्ज हो गया। ऐसे में भगदड़ मची और भीड़ छटने लगी। इस दौरान रामसागर और रामदेव जैसे कई सेनानी अंग्रेजों को चकमा देकर निकल गये, पकड़े गये सेनानियों को बंदी बना लिया गया।

रात करीब 11 बजे थे, दरोगा सुखराज ने सेनानियों को बैरक से बाहर बुलाया। वहां एक अंग्रेजी अफसर भी मौजूद था, जिसे रामदेव आजाद और राम सागर मिश्र की तलाश थी। उसने सख़्त आवाज में पूछा, "तुम में से रामदेव और राम सागर कौन है? अगर तुम सही बताओगे, तो बाकी सभी को छोड़ दिया जाएगा।" सेनानियों ने चुप्पी साध ली। जब कोई जवाब नहीं दिया, तो उन पर कोड़े बरसाये गये। यातनाएं दी गईं। अंग्रेज बार बार रामदेव और राम सागर का नाम पूछ रहे थे, लेकिन आजादी की तपन से भरे सेनानियों ने अपने होंठ सी लिए। दरोगा ने निराश होकर कहा, "इनके शरीर लोहे के हैं।" अगली सुबह, सभी सेनानियों को जिला जेल लखनऊ भेज दिया गया। वहां का माहौल भयावह था। उन दिनों जिला जेल में जेलर रामनाथ तिवारी थे उन्होंने कहा, "जेल भर गई है, कोई जगह नहीं है। इन्हें फांसी गारद ले जाओ।" सेनानी सत्यशील मिश्र ने कहा, "बचान जी, लगता है अब हमारी फांसी होगी।" बचान शुक्ल ने हंसते हुए कहा, "जब हमने सर पर कफन बांध ही लिया है, तो मरने का डर कैसा?" रात भर मच्छरों का हमला और फांसी गारद का डर सताता रहा। सभी सेनानी जागते हुए सुबह का इंतज़ार करते रहे। अगली सुबह सेनानियों ने हड़ताल कर दी और कहा कि बैरक में बंद नहीं होंगे। जब जेलर ने आदेश दिया, "5 बज गए हैं, आप सभी बैरक में चलिए," तो सेनानियों ने एक सुर में कहा, "हम बैरक में नहीं जाएंगे!" सर्दी बढ़ गई थी, और जब सेनानियों ने बैरक में जाने से मना कर दिया, तो कुछ अंग्रेज आए और उन पर बल प्रयोग करने लगे। इस घटना ने सेनानियों को और भी मजबूत बना दिया।

जेल की कठोर दीवारों के बीच, बचान शुक्ल और उनके साथियों को जो भोजन दिया जाता था, वह बेहद खराब था। जबकि अन्य कैदियों को अच्छे खाने की सुविधाएं मिलती थीं, स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को घुइयां का झलरा, अधपकी रोटी और कच्चे चावल खाना पड़ता था। एक दिन, जिला जेल में बंद हरिकृष्ण अवस्थी ने इसके खिलाफ आवाज़ उठाई। उन्होंने कहा, "हम ऐसा भोजन नहीं करेंगे।" उनके इस निर्णय ने सभी को प्रेरित किया और वे अनशन पर बैठ गए। जब सारा भोजन वापस कर दिया गया, तो जेलर ने स्थिति का संज्ञान लिया। जेल के अधिकारियों ने आकर कहा, "ये सेनानी देश के लिए अपनी जान कुर्बान कर रहे हैं। हमें इनके साथ खड़ा होना चाहिए था, लेकिन नौकरी के चलते ऐसा नहीं हो सकता।" इसके बाद सभी को अच्छा भोजन उपलब्ध कराया गया। कुछ समय बाद, जब सेनानियों की पेशी हुई, तो कचहरी में उन्हें एक–एक साल की सजा सुनाई गई। इसी दौरान, अंग्रेजी हुकूमत ने कुम्हरावां के सेनानी रामदेव आजाद, रामसागर समेत कई अन्य सेनानियों के घरों की कुर्की करवा दी और उनके घरों को ध्वस्त कर दिया, लेकिन यह संघर्ष नहीं रुका। जेल से छूटने के बाद, इन सेनानियों ने फिर विद्रोह शुरू किया और हजरतगंज में स्थित पुराना डाकखाना नष्ट कर दिया। उन्होंने बिजली के तार तोड़ दिए और मोहिबुल्लापुर स्टेशन की पटरियां उखाड़ दीं, ताकि अंग्रेज उनके क्षेत्र में जल्दी न घुस सकें। ये विरोध निरंतर जारी रहा। इस आंदोलन में कुम्हरावां के सेनानियों के साथ शुकलनपुरवा के देवतादीन शुक्ल, बरगदी के दीनदयाल और धनीराम भी मौजूद थे। सेनानी रामसागर मिश्र के पौत्र दीपक मिश्र एक घटना का जिक्र करते हुए बताते हैं, "हमारे दादा और गांव के सभी सेनानी अब अंग्रेजों की आंख में खटक चुके थे। इसलिए जब वे पकड़े जाते, तो अपना नाम और पता छिपा लेते थे।" 1942 के आंदोलन के दौरान, बाद में रामसागर मिश्र भी अंग्रेजों के हाथों गिरफ्तार हो गए। जब अंग्रेजों ने उन्हें सख़्ती से पूछताछ की, तो उन्होंने झूठा पता बताया ताकि उनके साथियों को छिपने का समय मिल सके। उन्होंने कहा कि वह बिलगांव, हरदोई के रहने वाले हैं। जब अंग्रेजों ने उन्हें वहां ले जाकर पूछताछ की, तो गलत पता जानकर वे

तिलमिला उठे और उन्हें जेल में डाल दिया। इस प्रकार, बचान शुक्ल और उनके साथी अपने साहस और बलिदान से न केवल अपने गांव, बल्कि पूरे देश को प्रेरित करते रहे। उनका यह संघर्ष केवल एक लड़ाई नहीं थी, बल्कि एक नई पीढ़ी के लिए आज़ादी की आवाज थी। उनके साहस ने दिखाया कि चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ आएं, स्वतंत्रता की जंग कभी नहीं रुकती। इन सभी सेनानियों की कहानियाँ न केवल उनकी वीरता का परिचय देती हैं, बल्कि हमें यह भी याद दिलाती हैं कि स्वतंत्रता की इस लड़ाई में एकता और साहस का कितना महत्व था। कुम्हरावां के नायक आज भी हमारे दिलों में ज़िंदा हैं, और उनकी विरासत हमें प्रेरित करती है कि हम अपने देश की रक्षा और प्रगति के लिए हमेशा तत्पर रहें।

कुम्हरावां के नायक

कुम्हरावां की मिट्टी में अनेक नायक छिपे हुए थे, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में साहस और बलिदान की अद्‌भुत मिसालें पेश कीं। इनमें से हर एक ने अपनी अलग पहचान बनाई, लेकिन सभी का लक्ष्य एक ही था—भारत की स्वतंत्रता।

स्व. गुरू प्रसाद बाजपेयी 'वैद्य जी' का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ, लेकिन उनके हृदय में दृढ़ता और स्वाभिमान की जड़ें गहरी थीं। 1930 में, हरिहर स्वामी के नेतृत्व में, उन्होंने लखनऊ के झंडे वाले पार्क से निकलकर अंग्रेजी सरकार द्वारा लगाई गई धारा 144 को तोड़ा और जेल गए। 1942 में, वे पं. नेहरू के साथ जेल में रहे और चंद्रभानु गुप्त जी के निकट सहयोगी बने। आज़ादी के बाद, उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा स्थापित औषधालय महिगवां में वैद्य के पद पर कार्यरत रहे।

स्व. रामसागर मिश्र प्रखर समाजवादी चिंतक थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और 1942 के आंदोलन में कई बार जेल गए। लोहिया जी के अनुयायी होने के नाते, वे विधान परिषद के सदस्य रहे और आपातकाल में बंदी अवस्था में ही उन्होंने जीवन त्याग किया। उनके प्रयासों से गांव में सड़क, बिजली और अस्पताल जैसी मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध हुईं।

स्व. रामदेव आजाद कुम्हरावां के कांग्रेस के सबसे सक्रिय कार्यकर्ता थे। उन्होंने न केवल स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया, बल्कि अन्य युवाओं को भी प्रेरित किया। 1942 के आंदोलन में वे कई बार जेल गए और बाद में जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बने। उन्होंने क्षेत्र में शिक्षा के महत्व को समझा और कई शिक्षण संस्थानों की स्थापना में मदद की।

स्व. फूलकली आजाद, रामदेव आजाद की सहधर्मिणी, ने भी अपने पति का साहसिक साथ दिया। उन्होंने 1942 में जेल यात्राएं कीं और महिलाओं के जत्थे को लेकर थाना इटौंजा का घेराव किया। वह समाज के हर वर्ग से स्नेह करने वाली एक सामाजिक महिला थीं।

स्व. सत्यशील मिश्र सरल हृदय के व्यक्ति थे। निर्धनता के बावजूद, उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में अग्रणी भूमिका निभाई। आज़ादी के बाद, उन्होंने अध्यापन का कार्य किया और नई पीढ़ी में देशभक्ति का जज़्बा जगाने का प्रयास किया।

स्व. बाबूलाल एक कवि हृदय व्यक्ति थे, जिन्होंने छात्र जीवन में ही स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। मण्डल कांग्रेस कमेटी के कार्यालय सचिव के रूप में, उन्होंने अपनी लेखनी से लोगों में देश प्रेम का जज़्बा भरा।

स्व. जगदेव दीक्षित और उनके भाई स्व. श्याम सुन्दर दीक्षित 'मुन्ने' ने भी 15 अगस्त, 1942 को धारा 38 के तहत सज़ा भुगती। दोनों ने स्वतंत्रता के लिए अपनी जान की परवाह किए बिना संघर्ष किया।

स्व. विश्वनाथ मिश्र 'डॉक्टर साहब' एक सम्मानित व्यक्तित्व थे, जिन्होंने 1942 के स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया। उन्होंने पंचायत सेक्रेट्री और एडीओ पंचायत के पदों पर कार्य किया।

स्व. पुत्तीलाल और स्व. बद्री विशाल मिश्र भी कुम्हरावां टोली के प्रमुख क्रांतिकारी थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और कठिनाइयों का सामना किया।

स्व. रामकुमार बाजपेयी ने भी अपने बचपन में स्वतंत्रता संग्राम में कदम रखा। वे एक शिक्षक के रूप में नयी पीढ़ी को जागरूक करने का कार्य करते रहे।

श्री बचान शुक्ल एक धीर, गंभीर और ऊर्जा से भरे व्यक्ति थे। उन्होंने युवा अवस्था में स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागीदारी निभाई। आज़ादी के बाद भी वे अपने विचारों से लोगों का मार्गदर्शन करते रहे। •

पता : 5 का केशव नगर द्वितीय, अन्ना मार्केट–लखनऊ–226020

मो. : 8924856004

महान वीर बलिदानी बालक खुदीराम बोस

❑ गौरीशंकर वैश्य

भारत को आततायी अँग्रेज शासकों से स्वाधीनता अनेक देशभक्तों, क्रांतिकारियों और सेनानियों के त्याग–बलिदान के पश्चात प्राप्त हुई है। इस स्वतंत्रता–समर में असंख्य क्रांतिकारियों ने लंबे संघर्ष में अपार दुःख–यातनाएं झेलते हुए प्राणोत्सर्ग किए हैं, जिसमें साहसी युवाओं के साथ अनेक वीर बालकों के नाम भी सम्मिलित हैं। इन्हीं महान वीर बलिदानियों में बालक खुदीराम बोस का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है, जिसने मात्र 18 वर्ष की आयु में क्रूर, अन्यायी और शक्तिशाली अंग्रेजों से लोहा लेते हुए भारतमाता के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी।

महान क्रांतिकारी बालक खुदीराम बोस का जन्म 3 दिसंबर ,1889 को पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जनपद के हबीबपुर गांव में हुआ था। उनके पिता बाबू त्रैलोक्यनाथ बोस तथा माता का नाम लक्ष्मीप्रिया था। जब वे बहुत छोटे थे, तभी उनके माता–पिता का निधन हो गया था। उनकी बहन ने उनका लालन–पालन किया था।

राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत खुदीराम स्कूली दिनों से ही राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने लगे थे। उनके मन में देश को आज़ाद कराने की ऐसी लगन लगी कि नौवीं कक्षा के बाद ही पढ़ाई छोड़ दी और 'स्वदेशी आंदोलन' में कूद पड़े। वे प्रदर्शनों और सभाओं में सम्मिलित होकर अन्य राष्ट्रभक्तों के साथ अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध नारे लगाते थे। उन्होंने 'रिवोल्यूशनरी पार्टी' के सदस्य बनकर 'वंदेमातरम' लिखे पर्चे बँटवाए। 1905 में बंगाल के विभाजन (बंग–भंग) के विरोध में चलाए गए आंदोलन में उन्होंने बढ़–चढ़कर भाग लिया। फरवरी 1906 में मिदनापुर में एक कृषि प्रदर्शनी लगी हुई थी। उसमें उन्होंने सत्येन्द्रनाथ बोस द्वारा लिखे 'सोनार बांग्ला' नामक ज्वलंत पत्रक की प्रतियां वितरित कीं।

एक पुलिस वाला उन्हें पकड़ने के लिए आया, तब खुदीराम ने उस सिपाही के मुँह पर ज़ोर से घूंसा मारा और शेष पत्रक दबाकर भाग गए। इस प्रकरण में राजद्रोह के आरोप में सरकार ने उनपर अभियोग चलाया, किन्तु गवाही न मिलने से वे निर्दोष छूट गए। 28 फरवरी, 1906 को वे पुनः गिरफ्तार कर लिये गए, किन्तु वे कैद से भाग निकले। लगभग दो माह बाद अप्रैल में वे फिर से पकड़े गए तथा 16 मई, 1906 को पुनः रिहा कर दिये गए।

6 दिसंबर, 1907 को खुदीराम ने नारायणगढ़ रेलवे–स्टेशन पर बंगाल के गवर्नर की विशेष ट्रेन पर बम से हमला किया, किन्तु गवर्नर बच गया। 1908 में खुदीराम ने दो अंग्रेज अधिकारियों वाट्सन और पैम्फामल्ट कुलर पर बम से हमला किया, किन्तु वे भी बच निकले। मिदनापुर में 'युगांतर' नाम की क्रांतिकारियों की गुप्त संस्था के माध्यम से खुदीराम क्रांति–कार्यों में प्राण–प्रण से जुट चुके थे। लार्ड कर्जन ने जब बंगाल का विभाजन किया, तो उसके विरोध में वे सड़कों पर उतरे। अनेक भारतीयों को तत्कालीन कलकत्ता के मजिस्ट्रेट किंग्ज फोर्ड ने क्रूर दण्ड दिया। इससे किंग्ज फोर्ड को पदोन्नति मिली और वह मुजफ्फरपुर में सत्र न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुआ। तब 'युगांतर'

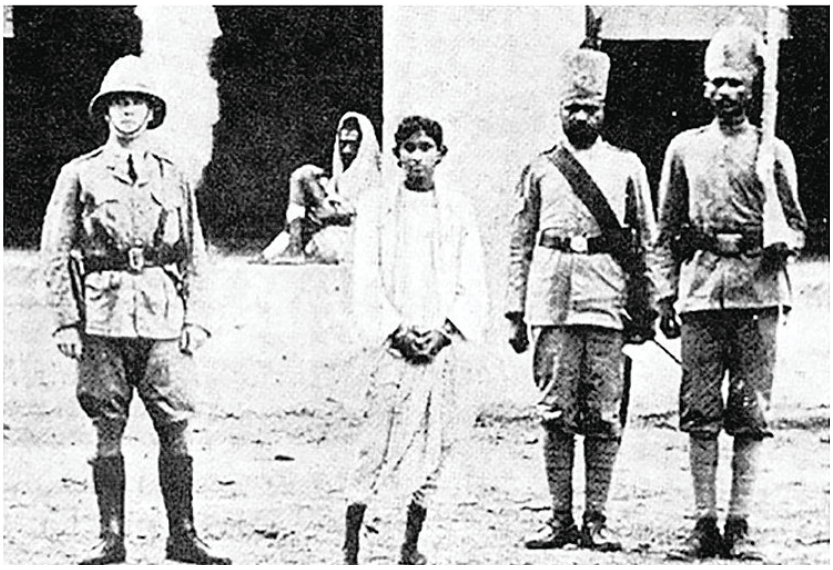

समिति की गुप्त बैठक में किंग्ज फोर्ड को ही मारने का निश्चय हुआ। इस कार्य हेतु खुदीराम बोस और प्रफुल्लकुमार चाकी का चयन किया गया। मुजफ्फरपुर आकर दोनों ने पहले किंग्ज फोर्ड के बँगले की निगरानी की। उन्होंने उसकी बग्घी और घोड़े का रंग देख लिया था तथा खुदीराम उसके कार्यालय में जाकर उसको देख भी आये थे। 30 अप्रैल, 1908 को वे दोनों किंग्ज फोर्ड की हत्या करने के लिए बाहर निकले और उसके आने की प्रतीक्षा करने लगे। रात के 8 बजे के आसपास क्लब से किंग्ज फोर्ड की बग्घी के समान गाड़ी आते हुए दिखी, तो खुदीराम गाड़ी के पीछे भागने लगे। खुदीराम ने अँधेरे में ही उस गाड़ी पर निशाना साधकर बम फेंका, किन्तु योजना असफल रही, क्योंकि उस गाड़ी में किंग्ज फोर्ड नहीं, उसकी पत्नी और बेटी थी, वे दोनों मारी गईं। किंग्ज फोर्ड थोड़ी देर से आने के कारण बच गया। इस घटना से अँग्रेजों में तहलका मच गया। अँग्रेज पुलिस खुदीराम के पीछे लग गई। पुलिस को उन्होंने बहुत छकाया, परंतु अंततः उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनके दूसरे साथी प्रफुल्ल कुमार खुदीराम से बिछुड़ने के बाद काफी दूर भागने में सफल रहे तथा उस समय बच गए।

इस 18 वर्ष के क्रांतिकारी बालक को देखने के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी। जेल में खुदीराम को बहुत यातनाएं दी गईं। इसके बाद भी उन्होंने अपने संगठन के बारे में कुछ नहीं बताया। उनका मुकदमा लड़ने के लिए कई वकील तैयार थे। वे चाहते थे कि खुदीराम आरोपों से मुकर जाएं, किन्तु उन्होंने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया। अंततः जज ने खुदीराम बोस को फांसी की सज़ा सुना दी। सजा सुनकर खुदीराम बोस के चेहरे पर किंचित भी म्लानता नहीं थी। उन्होंने मुस्कुराते हुए इस निर्णय को स्वीकार किया।

नवयुवक खुदीराम को 11 अगस्त, 1908 को अँग्रेजों ने फांसी दे दी थी। उस दिन प्रातः छह बजे फांसी का फंदा खुदीराम बोस की प्रतीक्षा कर रहा था, तब वे हाथ में श्रीमद्भगवद्गीता लेकर हँसते–हँसते फांसी के फंदे पर झूल गए।

इतिहासकार खुदीराम बोस को फांसी पर चढ़ाने वाला भारत का सबसे कम आयु का क्रांतिकारी मानते हैं। कहा जाता है कि इस शोक में कई दिन स्कूल–कॉलेज बंद रहे और नवजवानों ने ऐसी धोती पहनना शुरू कर दिया, जिसकी किनारी पर खुदीराम बोस लिखा होता था। किंग्ज फोर्ड ने नौकरी छोड़ दी और जिन क्रांतिकारियों को उसने यातना दी थी, उनके भय से उसकी शीघ्र मृत्यु हो गई।

देश के राष्ट्रभक्तों के लिए उस वीर बालक का बलिदान प्रेरक एवं अनुकरणीय है। भारतमाता को ऐसे सच्चे सपूत पर सदैव गर्व रहेगा। •

पता : 117 आदिलनगर, विकासनगर
लखनऊ 226022
मो. : 09956087585

भगतसिंह का हिन्दी प्रेम

❑ चित्रलेखा वर्मा

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भगतसिंह का महत्व पूर्ण योगदान है। शहिदेआज़म भगत इस देश के स्वतंत्रता संग्राम के चमकते सितारों में से एक हैं। भगतसिंह की शहादत ने न केवल पूरे राष्ट्र को स्वतंत्रता के लिए जागरूक हैं किया बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के नव युवकों में देश प्रेम के लिए बलिदान देने की चेतना भी सुलगा दी। भगतसिंह ने ब्रिटिश सरकार का वैचारिक विरोध किया तथा क्रांतिकारी दल के माध्यम से अंग्रेज सरकार को चुनौती भी दी।

भगतसिंह भारतीय भाषाओं को बहुत प्यार करते थे। उनका राष्ट्र प्रेम भाषा के माध्यम से भी भारतीय नवयुवकों के सामने एक आदर्श था। उनका अधिकतर लेखन हिन्दी भाषा में है। संस्कृत भाषा का भी उनको गहरा ज्ञान था। जब वे लाहौर कॉलेज में पढ़ते थे तब उन्होंने पत्र द्वारा अपने दादा जी को सूचित किया था कि उनको संस्कृत भाषा में सबसे अधिक अंक प्राप्त हुए हैं। वे क्रांतिकारी के साथ–साथ एक चिन्तक, विचारक और लेखक भी थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा आयोजित कई प्रतियोगिताओं में भगतसिंह ने भी भाग लिया और पुरस्कार प्राप्त किए थे। भाषाओं के इन संस्कारों के कारण वे बहुत गहराई से भारतीय संस्कृति की अस्मिता को पहचानने लगे थे।

भगतसिंह भारतीय भाषाओं के उत्थान में राष्ट्र की मुक्ति के भविष्य को देखते थे। राष्ट्र भाषा हिन्दी पर उन्होंने एक लम्बा लेख भी लिखा था। उनका मानना था कि भारत की अखंडता में हिन्दी भाषा सक्रिय भूमिका निभा सकती हैं। उनका कहना था कि भारत की जनता का सहज लगाव अगर किसी एक भाषा से हो सकता तो वह भाषा हिन्दी ही थी। वे बराबर हिन्दी

साहित्य का अध्ययन करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में उन्होंने अभिनय भी किया था। उनका कहना था कि जनता को जनता के साहित्य से ही जागृत किया जा सकता है।

पंजाबी भाषा में भी उनकी गहरी आस्था थी। मातृ भाषा पंजाबी के प्रश्न को भी उन्होंने ने अपने लेखों में उठाया था। राष्ट्र भाषा, मातृ भाषा, और संस्कृत भाषा के अन्तःसम्बंधों को वे देश हित के लिए ज़रूरी समझते थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य के बड़े–बड़े लेखकों और विद्वानों के साहित्य का अध्ययन किया था जैसे कबीर, सूरदास, गुरु नानक, गुरु गोविंद सिंह आदि। आप ने भारतेन्दु साहित्य एवं उस युग के साहित्यकारों का अच्छा ख़ासा अध्ययन किया था। श्री मद् भगवद्गीता, तथा तिलक जी के 'गीतारहस्य का' भी विशेष अध्ययन किया था। आप के प्रेरणा स्रोत मदन लाल ढीन्गरा, ऊधम सिंह जी थे। वीर सावरकर की जीवनी आप को आदर्श क्रांतिकारी की जीवनी लगती थी, गणेश शंकर विद्यार्थी जी के पत्र 'प्रताप पत्र' में उन्होंने सम्पादक के पद को सम्भाला था। 5 फुट 10 इंच के भगतसिंह ने अपने छोटे से जीवन काल में बहुत सी पुस्तकों का अध्ययन किया था । भगतसिंह सच्चे अर्थों में राष्ट्र नायक थे। वीर सावरकर की पुस्तक का पुनर्प्रकाशन भगतसिंह ने करवाया था।

एक बार भगतसिंह झोले में वीर सावरकर की पुस्तक रखकर वीर सावरकर के घर गए थे। पुस्तक उस ढंग से लाने पर वीर सावरकर ने कहा भगतसिंह 'क्या झोले में बम छिपा कर' लाये हो।' भगतसिंह ने कहा कि' इसे बम ही समझइये यह वीर सावरकर की पुस्तक है।' भगत सिंह को हिन्दी के उन लेखकों से परिचय था, जिनका क्रांतिकारियों से सम्पर्क था, जैसे यशपाल और अज्ञेय। भगतसिंह को उर्दू साहित्य का भी ज्ञान था, वे अपने ख़तों में उर्दू के शेर लिखा करते थे। इसके अतिरिक्त वे प्रायः चकबस्त बृजनारायण की इन पंक्तियों को अक्सर गुनगुनाते थे, उसे यह फ़िक्र है, हर दम नई तर्ज़–ए–जफ़ा क्या है, हमें ये शौक़ है देखें सितम की इन्तिहा क्या है। बहार से क्यों खफ़ा रहें चर्ख से क्यों गिला करें। मेरी हवा में रहेगी ख्याल की बिजली यह मूरतें खाक हैं, फानी रहे न रहे कारावास के दौरान उन्होंने बीस से अधिक पुस्तकों का अध्ययन किया था। और उनके अंशों को अपनी डायरी के पन्नों में दर्ज़ किया था। भगतसिंह की जेल डायरी इस बात का सबूत है। आप ने पंजाब के देश भक्तों जैसे मदन लाल ढींगरा करतार सिंह सराना तथा सतगुरु राम सिंह पर भी हिन्दी में अलेख लिखे हैं। जेल के दिनों में भी आप ने गीता के कुछ अंशों का अनुवाद भी किया था। भारतीय संस्कृति के लिए भी वे बहुत जागरूक थे।

भारतीय आर्य समाज को भी वे अनुकरणीय मानते थे। इन्हीं संस्कारों के तहत वे ऋृग्वेद की गरिमा से परिचित हुए। जेल कोठरी में फाँसी के पूर्व उनके ओठों पर "मेरा रंग दे बसंती चोला" गीत था। एक बात महत्वपूर्ण यह है कि उन्होंने वन्दे मातरम् की शक्ति को अपने आलेखों में स्वीकार किया था। भगतसिंह की शहादत के बाद पंजाब के कवियों ने 500 के करीब श्रद्धांजलि स्वरूप कविताएँ लिखीं जिसका संकलन 2005 में प्रकाशित हुआ। भगतसिंह पर बहुत सी फिल्में बनीं। भगतसिंह सच्चे अर्थों में नव युवकों के नायक बने। पंजाबी लोक मानस में उनका बिम्ब दिन पर दिन अनेक रंगों में आलोकित हो रहा है। अमृतसर के हिन्दी और उर्दू शायरों ने भगतसिंह की शहादत पर अनेक नज़में लिखी थी। और पंजाब में उन पर घोड़ियाँ भी लोक गीत की तरह लिखी गई हैं। यह बहुत प्रचलित भी है। इसमें भगतसिंह की शादी की कल्पना की गई है। पंजाब के शायर राम लुभाया साहिर ने देव नागरी लिपि में अमृतसर में एक पुस्तक 'ये प्यारी सरदार भगत सिंह जी दी फाँसी ये प्यारी भैड दा बिरलाप प्रकाशित कर उनकी शहीदी को घर–घर तक पहुँचा दिया। आओ नी भेंड़ों रत्न मिल गाइये घोड़ियों जंज तो होऊँ, तैय्यार वे हाँ मौत कुटी ने पर नावन तलियाँ भगतसिंह सरदार वे हाँ सरदार भगत सिंह का हिन्दी प्रेम अद्भुत, अद्वितीय, और सराहनीय था। और कई नए संकल्पों को जन्म देता है। •

पता : दि इण्डियन बुक डिपो, आदित्य भवन प्रथम तल,
झन्डा वाला पार्क, अमीनाबाद, लखनऊ–18
मो. : 7007184526

अंधायुग : मिथ और यथार्थ

❑ गौरी त्रिपाठी

धर्मवीर भारती की नाट्यकृति ''अंधायुग'' महाभारत के मिथक पर आधारित एक ऐसी रचना है जिसमें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का यथार्थ और आधुनिक भारतीय समाज की बहुस्तरीय विडंबनाएं और खंडित जीवन के चित्र दिखाई देते हैं। इस कृति में नायकत्व का स्खलन, अर्धसत्य और अनास्था का प्रबल स्वर सुनाई देता है। यहां इस कृति के माध्यम से हम अपने समय को पढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं।

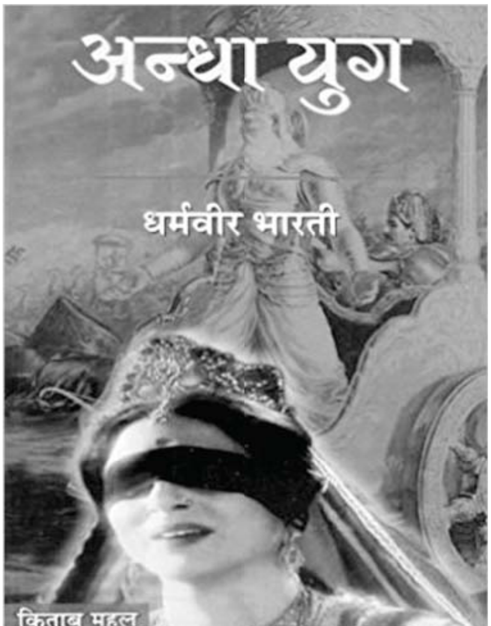

बीजशब्द–

अर्धसत्य, यथार्थवाद, मिथक, दुःस्वप्न, प्रतिहिंसा, विजय, अनास्था, आत्मघात, प्रहरी, प्रभु की मृत्यु

परिकल्पना–

धर्मवीर भारती अपने समय के एक ऐसे लेखक के रूप में जाने जाते हैं जिसने साहित्य की चाहे जिस विधा में अपनी लेखनी चलाई उसी में उन्होंने वह ऊंचाई प्राप्त कर ली जो उस विधा के शीर्षस्थ लोगों को प्राप्त थी। ''गुनाहों का देवता'' और ''सूरज का सातवां घोड़ा'' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ''कनुप्रिया'' उनकी रोमैंटिक भाव धारा की प्रसिद्ध कविता है। उन्होंने निबंध भी लिखे। धर्मयुग का सम्पादन करते हुए उन्होंने साहित्यिक पत्रकारिता को जिस ऊंचाई पर खड़ा कर दिया, वहां तक दुबारा जा सकना असंभव हो गया। गीत नाट्य के क्षेत्र में ''अंधायुग'' उनकी कालजयी रचना है जिसका मुख्य स्वर युद्ध का विरोध है। अज्ञेय और रामदरश मिश्र के अलावा लगभग हिंदी के सभी आलोचकों ने अपने–अपने तरीके से उनका मूल्यांकन किया है। विश्व विद्यालयों में उनके कृतित्व को लेकर सैकड़ों शोधग्रंथ लिखे जा चके हैं। वर्तमान संदर्भों में ''अंधायुग'' को पढ़ने तथा समझने की एक विनम्र कोशिश का परिणाम है यह शोध–पत्र।

महत्व–

आज विश्व मानवता के समक्ष लगातार युद्ध का संकट बना हुआ है। अंधायुग इसी युद्ध की निस्सारता का महावृत्तान्त प्रस्तुत कर रहा है। युद्ध की विभीषिका में न सिर्फ कौरव पक्ष पराजित होता है, बल्कि वह जो विजेता था, पांडव दल, उसने भी खोया है। युद्ध में मनुष्य के

सारे सामाजिक और राजनीतिक आदर्श खो जाते हैं। सत्ता का अहंकार मानव जीवन के उज्ज्वल पक्षों को कलंकित करता है। धृतराष्ट्र का अंधापन सत्ता के अंधेपन में तब्दील होता जाता है। अश्वत्थामा अमरत्व का वरदान पाने के बावजूद अपने घायल और बदबूदार जख्मों के साथ छिपा–छिपा घूमता है। यह है आज के आतंकवाद की नियति और त्रासदी। इन्हीं का विश्लेषण विवेचन इस शोधपत्र का मूल उद्देश्य है।

शोधप्रविधि–

साहित्य के समाजशास्त्रीय आलोचना को आदर्श आलोचना मानते हुए इस शोध–पत्र में मैंने आलोचनात्मक अनुसंधान पद्धति, विश्लेषणात्मक अनुसंधान पद्धति और तुलनात्मक अनुसंधान पद्धतियों का सहारा लिया है। आधार ग्रंथ के अलावा तत्कालीन समय संदर्भों में लिखी गयी अन्य कृतियों की भी मदद ली गयी है।

मिथ और यथार्थ

अंधायुग मूलतः युद्ध के विरोध में लिखी गयी एक नाट्य रचना है जिसके के केंद्र में अर्धसत्य है, और परिणाम में प्रभु की मृत्यु। प्रभु की मृत्यु का तात्पर्य सिर्फ कृष्ण की मृत्यु से नहीं, बल्कि उन समस्त आदर्शों, मानवीय मूल्यों और उनकी अर्जित उदात्त संभावनाओं की मृत्यु से है। धृतराष्ट्र या गांधारी जो स्वयं जीवन भर आंखों पर पट्टी बांधे अन्याय का अनिच्छित और अकर्मक पालन करते रहे, वे आज विवश हैं। जिनमें दंड देने की शक्ति थी, वे लाचार होकर शाप देते हैं। विजय जिसे इतिहास में तरह तरह से गौरवान्वित किया जाता रहा है उसे इस कृति में एक क्रमिक आत्महत्या की तरह दर्शाया गया है। ''सच है, वीरता जब भागती है तो उसके पैरों से राजनीतिक छल–छद्म की धूल उड़ती है।''[1]

महाभारत का युद्ध जिस कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ा गया था क्रमशः वह उसी चौसर की रंगशाला का विस्तार बनने लगता है, जिसकी शुरुआत कौरव की ओर से शकुनि ने की थी। फिर तो जैसा मैंने ऊपर ध्रुवस्वामिनी के हवाले कहा भी है, उस युद्धभूमि में और उसके बाहर भी छल–प्रपंच ही नाना रूपों में दिखाई देने लगता है।

अंधायुग को सिर्फ नाट्यकला, उसकी प्रस्तुति की दृष्टि से नहीं पढ़ा जा सकता है। जिस समय यह महानतम कृति रची गयी है, उस समय साहित्य की अन्य दूसरी विधाओं, मसलन, कविता, उपन्यास आदि में भी शायद ही कोई ऐसी कृति रची गयी हो जिसका इतना व्यापक और सघन प्रभाव रहा हो।

यथार्थ और यथार्थवाद

प्रेमचंद ने अपने युग की विडंबनाओं के चित्रण हेतु जिस यथार्थवाद की नींव डाली, और उसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से आलोचनात्मक यथार्थवाद की मंज़िल तक ले गए थे, उसमें जगह–जगह से टूटते–दरकते भारतीय किसानों और गांवों की कहानी तो है, लेकिन वह युग सिर्फ गांवों और किसानों के टूटने का ही नहीं था, बल्कि वह मनुष्य और मनुष्यता पर गहराते जा रहे भयानक संकट का दौर था। जिसके बारे में भारती जी लिखते हैं–

''उस भविष्य में धर्म–अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे, क्षय होगा धीरे–धीरे सारी धरती का।''

''सत्ता होगी उनकी/जिनकी पूंजी होगी। जिनके नकली चेहरे होंगे/केवल उन्हें महत्त्व मिलेगा।''[2]

प्रेमचंद का यथार्थ भारतीय गांवों का यथार्थ था।खेती और किसानी के उजड़ने और क्रमशः किसानों के विपन्न होने के विवरण थे। लेकिन अंधा युग जिस यथार्थ को लेकर लिखा गया है, उसमें पूंजी के प्रभुत्व वाली सभ्यता से उपजे शासक वर्गों की सत्तालोलुपता है। युद्ध में घायल और मरणासन्न मानव नियति के प्रश्न हैं। यह सब आज हमारे सामने रोज़–रोज़ घटित हो रहा है। यह सुदूर इतिहास में खड़े मनुष्य की कहानी नहीं, बल्कि ऐसा लगता मानो कोई स्वप्न कथा चल रही हो। एक फैंटेसी के अंधेरे वृत्त में विजय तलाशते आज हम जिस युग में जी रहे हैं, यह सब वही हमारे बेहद करीब, चिर–परिचित और आस पास फैले संकट का एकदम जाना पहचाना यथार्थ है। सतह पर फैले–तैरते इन घटनाओं के विवरण और चित्रण से पकड़ में आ सकने वाला यह दृश्य यथार्थ है ही नहीं। उस कल्पनातीत यथार्थ को दुःस्वप्नों और फैंटेसी के माध्यम से ही चित्रित किया जा सकता है।

समय और साहित्य

अंधायुग 1955 में प्रकाशित हुआ था, लेकिन बहुत सीधे और सपाट ढंग से देखे तो 1955 का यह समय हिंदी कहानी या कविता में नई कहानी या नई कविता का समय था, जिसमें भारत की नई–नई आजादी, और नेहरू युग का रोमानी सम्मोहन था।

ऐसे में हमें ज़रूर अंधायुग के यथार्थ की ऐतिहासिक संगति खोजनी पड़ेगी। यथार्थ की उस ऐतिहासिक संगति

को जो एक लंबे कालखंड से रचनाकार के भीतर दुःस्वप्नों की भयानक छाया बनकर उमड़–घुमड़ रही हो, जिसके चित्रण के लिए रचनाकार महाभारत के अवसान काल को चुनता है। महाभारत का वह वृत्तांत मिथक बनता है, और शुरू होती है यथार्थ की फैंटेसी। ''फैंटेसी द्वारा उद्‌बुद्ध शब्दों के अर्थ–अनुषंग और उनसे सम्बद्ध चित्र नयी भावधारायें बहा देते हैं। ये भाव धाराएं फैंटेसी के अनुकूल और समीपवर्ती होती हैं। उन भाव धाराओं में अनेक नये–पुराने अनुभव और अपने–पराये भाव होने से फैंटेसी की अर्थवत्ता का विस्तार हो जाता है।''[3]

प्रथम विश्वयुद्ध फिर दो दशक बाद ही द्वितीय विश्वयुद्ध। हिरोशिमा और नागासाकी की विभीषिका रचनाकार के मनोमस्तिष्क को महाभारत के महाविनाश की याद दिलाता रहता है। एक बार यह समझ कर आप इन सबको झुठला भी दें कि हमारे देश के मानसपटल पर सुदूर यूरोप में घटने वाली इन घटनाओं का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही था। हमारे देश को तो अभी नई–नई आज़ादी मिली थी। नये भारत के निर्माण का स्वप्न देखता देश रोमैंटिक भावावेग में था। लेकिन काश यह सब इतना आसान होता। ताज़ा–ताज़ा हुए भारत विभाजन के पहले की अकल्पनीय बर्बरता, बलात्कार, भयानक कत्लेआम आदि से लहूलुहान गृह युद्ध के जख़्म इतने आसान न थे जिसमें यह तय किया जा सके कि आज़ादी का उल्लास बड़ा था, या विभाजन के जख्म ज्यादा गहरे थे? हमारे दृश्यपटल पर दहशत में डूबी नई दिल्ली थी, और हमारी स्मृतियों के मानसपटल पर हस्तिनापुर का करुण विलाप गूंज रहा था। वह समूचा युग अपने भीतर अश्वत्थामा के प्रतिशोध और अंधेरे को जी रहा था। युद्ध से पहले सब अपने को नायक ही समझ रहे थे। सब अपने आप को भाग्य विधाता ओर देवता समझ रहे थे लेकिन दो दशक पहले जैसा कि कामायनी का मनु कह रहा था–

''देव न थे हम,और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले।
हां कि गर्व रथ में तुरंग सा, जो चाहे जितना जुत ले।''[4]

दो–दो विश्वयुद्धों और नाना किस्म के गृहयुद्ध झेलता आज का मनुष्य जब तीसरे विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा है, तब हम विश्वासपूर्ण ढंग से कह सकते हैं कि युद्ध की निस्सारता पर न सिर्फ हिंदी में बल्कि विश्वसाहित्य में अंधायुग जैसी मार्मिक और प्रभाव शाली कृतियाँ कम लिखी गई हैं। यह हमारे आधुनिक जीवन के यथार्थ पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण मिथकीय कृति है।

प्रेमचंदोत्तर यथार्थ की शैली :

मिथक लोक प्रचलित कोई घटना, कोई आख्यान, कोई चरित्र लोक जीवन के बीच आकर जब, अलग–अलग संदर्भों में उद्धरित होने लगता है तो वह किसी यथार्थ, किसी जीवन संदर्भ के लिए मिथक बन जाता है। प्रेमचंद ने जिस यथार्थवाद की शुरुआत की थी वह यथार्थ चित्रण की एक शैली थी। लगभग उसी तरह प्रतीक, फैंटेसी, और मिथक भी यथार्थ चित्रण की ही अलग–अलग शैली हैं। उत्तर प्रेमचंद युग में चाहे गद्य लेखन की परंपरा हो या काव्य की, मिथकीय कृतियाँ प्रचुर मात्रा में रची गयीं, जिसका प्रारम्भ खुद प्रेमचंद के ही समकालीन छायावाद में प्रसाद जी ने अपनी महाकाव्यात्मक कृति कामायनी से की थी। कामायनी पौराणिक आख्यान की कोई नयी प्रस्तुति मात्र नहीं है। उसमें आधुनिक जीवन संदर्भ इतने गहरे और इतने व्यापक हैं कि वह आधुनिक मानव की कहानी बन गयी है। उसमें विश्व सभ्यता की समीक्षा है। उसमें आधुनिक प्रजातंत्र की विडंबनाओं, श्रम विभाजन और वर्ग संघर्ष की त्रासदियों को प्रभावशाली ढंग से उकेरा गया है। इन सारी समस्याओं का संबंध हमारे आज के समय से है।

इसी दौर में महाभारत के आख्यान को लेकर विभिन्न भारतीय भाषाओं के साथ ही हिंदी में कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ रची गयीं। मराठी में शिवाजी सावंत ने कर्ण के चरित्र को लेकर ''मृत्युंजय'' बंगला में प्रमनाथविशी ने कृष्ण की मृत्यु को केंद्र में रखकर ''पूर्णावतार'' जैसी कालजयी कृतियाँ लिखी हैं। हिंदी में राम कथा को केंद्र में रखकर नरेश मेहता ने ''संशय की एक रात'' तथा रामधारी सिंह दिनकर ने ''कुरुक्षेत्र'' और धर्मवीर भारती ने विवेच्य कृति ''अंधायुग'' की रचना की है। अंधायुग और कुरुक्षेत्र दोनों युद्ध के विरोध में लिखे गए काव्य है। लेकिन दोनों का स्वर बहुत भिन्न है। दिनकर युद्ध को एक अनिवार्य ट्रेजडी की तरह देखते हैं, तो धर्मवीर भारती उसे सिर्फ पशुता के प्रसार और अर्धसत्य के विस्तार में मानव जीवन पर पीब और सड़ांध भरे रिसते जख़्म की तरह देखते हैं।

कुरुक्षेत्र की भूमिका में दिनकर ने लिखा भी है–''कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य है।

मैं ज़रा भी दावा नहीं करता कि कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक–ठीक महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म हैं।''[5]

इस तरह हम देखते हैं कि उस कालावधि में जब पूरी दुनिया विश्वयुद्धों की आशंकाग्रस्त छाया में जी रही थी, तब उसके सपनों, उसके भय, उसकी आशंकाओं को उनके रचनाकार मिथकों के माध्यम से चित्रित कर रहे थे। ये मिथक समय और युग के यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर रहे थे।

नायकत्व का स्खलन–

पुरानी सामंती व्यवस्था में धीरोदात्त नायकों को केंद्र में रखकर महाकाव्य रचे जाते थे। मनुष्य का प्रेम, उसकी उदारता, उसके चरित्र की गरिमा और वैसे ही उसके गरिमामय संबंध इन महाकाव्यों के विषय होते थे। न्याय और अन्याय का सीधा सरल पक्ष होता था। महाभारत की कहानी और उसका कथानक इस आधुनिक कृति ''अंधायुग'' का मेरुदंड है, इसमें कोई नायक नहीं है। न युधिष्ठिर, न कृष्ण। सब अर्धसत्य के शापित हैं।

महाभारत की कहानी में युधिष्ठिर रणनीति के तहत एक अर्धसत्य रचते हैं–''अश्वत्थामा नरो मरो वा कुंजरो।'' और यही अर्धसत्य अंधायुग की क्रूर नियति बन जाता है। सारे के सारे चरित्र जैसे इसी की उपासना में लीन होकर युद्धोपरांत बची खुची मनुष्यता को खोते जाते हैं। सबमें एक वीभत्स और बर्बर पशुता प्रसार भरता जाता है।

इस तरह यह आदर्शों के पराभव का युग है। यह सत्य के पराभव का युग है। कहा जा सकता है कि इस युग में कहीं भी किसी तरह की कोई मर्यादा, कोई आस्था नहीं बची रह गयी है। सारे नायक अपने नायकत्व से च्युत होते हैं। नायकत्व का यह स्खलन सबसे पहले कामायनी में दिखाई देता है, जहां मनु अपनी बेटी तुल्य इड़ा से बलात्कार करता है। अपनी ही प्रजा के विरुद्ध शस्त्र प्रयोग करता है। लेकिन वहां उसके पुनरुत्थान के लिए श्रद्धा है, लेकिन अंधायुग समग्रतः नायकविहीन है। इसीलिए तो वह अंधायुग है, जिसमें अनास्था का अंधेरा इतना गहरा, इतना व्यापक है कि मनुष्य के लिए कोई उम्मीद नहीं। सब पशुता की छाया में जी रहे हैं। द्रोण को मारने के लिए धर्मराज द्वारा पशु को अश्वत्थामा बताया जाता है। यानी धर्मराज तक में मनुष्य और पशु का भेद मिट गया है, और परिणामस्वरूप कृष्ण भी पशु होने के भ्रम में ही मारे जाते हैं। इसीलिए अंधायुग महाभारत काल की नहीं, आधुनिक युग की कहानी है। आधुनिक पूंजीवादी या उत्तर आधुनिक युग की कहानी। विश्व के स्तर पर यह उत्तर हिरोशिमा और भारत के स्तर पर उत्तर विभाजन की कहानी है। जहां गुलामी की त्रासदी आज़ादी के प्रहसन से ज्यादा आश्वस्ति परक प्रतीत होने लगी है। उत्तर विभाजन भारत का संदर्भ लेते हुए प्रहरी एक और दो के बीच होने वाले वार्तालाप को सुनें। वे आपस में बात करते हैं–

''कोई विक्षिप्त हुआ/कोई शापग्रस्त हुआ हम जैसे पहले थे/वैसे ही अब भी हैं

शासक बदले/स्थितियां बिल्कुल वैसी हैं इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे।''[6]

आज़ाद भारत में अनेक अवसर पर यदा कदा ये वाक्य सुनाई देते रहते हैं। बहरहाल, कहानी अंधायुग की, और यथार्थ आधुनिक सभ्यता का। इसे जिन चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है उसमें महाभारत के कोई चिर–परिचित नायक या योद्धा मसलन, अर्जुन, भीम, भीष्म, द्रोणाचार्य या कर्ण आदि नहीं हैं, न उनकी स्मृतियां हैं।कुछ प्रहरी हैं, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, और युयुत्सु के अलावा युधिष्ठिर और कृष्ण हैं। नायकत्व के पराभवकाल के इस यथार्थ में स्थितयों की जैसी विद्रूपता चारो ओर दिखाई देती है, वह बीते युद्ध से ज्यादा कारुणिक और भयानक है।

कहा जाना अपेक्षित होगा कि महाभारत के नायक अंधायुग तक आते–आते दयनीय चरित्र से नज़र आने लगते हैं। तब यह तय कर पाना सहज लगता है कि धृतराष्ट्र का अंधापन कैसे एक पूरे युग या देश और आधुनिक युग के भीतर अनेक रूपों में दिखने लगता है।

महाभारत के पहले जो युद्ध धर्म युद्ध की शक्ल में अनिवार्य लगता था, जो न्याय के लिए, जीवन आदर्श के लिए, मानवीय गरिमा के लिए अपरिहार्य था, अठारह दिन बाद विजय के उपरांत वही युद्ध अपने अंतिम परिणाम में मानवीय गरिमा के लिए सबसे बड़ा कलंक बन जाता है। जैसा कि नाटक के प्रारंभ में ही कहा गया है

–''यह अजब युद्ध है, नहीं किसी की भी जय दोनों पक्षों को खोना ही खोना है अंधों से शोभित था युग का सिंहासन दोनों पक्षों में विवेक ही हारा दोनों पक्षों में जीता अंधापन जो कुछ सुंदर था, शुभ था, कोमलतम था वह हार गया।''[7]

अंधायुग के निहितार्थ की पहचान करने और उसे विश्लेषित करने के लिए यह आवश्यक है कि इस नाट्यकृति के प्रमुख चरित्रों और उनके कथनों को ध्यान से सुना जाय। एक रचनाकार अपने चरित्रों के कथन–उपकथन के माध्यम से ही अपने विजन को स्पष्ट करता है, अपनी बात रखता है। अंधायुग को बार–बार पढ़ने के बाद मुझे जो चरित्र सबसे प्रभावशाली लगे हैं उनका परिचय दे देना चाहती हूँ। ज़ाहिर है ये सारे के सारे चरित्र और लगभग घटनाएं भी हमारे लिए परिचित हैं। बावजूद नये संदर्भ में उनकी प्रस्तुति बहुत कुछ बदली हुई दिखाई देती है। मैं कोशिश करूंगी कि हर स्तर पर कृति के मर्म को खोला जाय और इस क्रम में अनावश्यक दुहराव से बचा भी जाय।

चरित्रों के बहाने–

(क)–अश्वत्थामा इस नाटक के केंद्र में है। जिस समय यह कृति रची गयी थी, तब तक न तो विश्व इतिहास में और न ही भारतीय इतिहास में प्रतिशोध के लिए तत्पर आतंकवाद का कोई अमानवीय चेहरा अस्तित्व में आया था। लेकिन इस कृति ने अश्वत्थामा के रूप में वैश्विक परिदृश्य पर उभरने वाले आतंकवाद की पहचान कर ली थी। कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अश्वत्थामा के रूप में धर्मवीर भारती ने जिस अजन्मे आतंकवाद की भविष्यवाणी की थी आज दुनिया भर की जासूसी एजेंन्सियां अपने–अपने दफ्तरों में उसकी कुंडली खोल कर उलझी पड़ी हैं। अश्वत्थामा अपने बारे में कहता है–

''वध, केवल वध, केवल वधमेरा धर्म है।''

''आधुनिक सभ्यता जो अब तक की श्रेष्ठतम व्यवस्था के रूप में जनतंत्र के साथ अस्तित्व में आई थी, जिसमें विज्ञान की शक्ति और वैज्ञानिक जीवन दृष्टि की बातें थीं। एक से एक उन्नत विचार और विचारधाराएं थीं, लेकिन इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका पूंजी की थी। उन्नत और मानवीय विचारों के बावजूद पूंजी की अपनी गति थी। अपना स्वभाव था। इस गति और स्वभाव के केंद्र में था एकाधिकारवाद। वह उसे युद्ध की ओर ले जा रहा था। जिस सभ्यता और व्यवस्था में युद्ध की अनिवार्यता हो वह ढेर सारे विचारों की जगह अर्धसत्य का नरेशन रचेगी ही। युद्ध में उसे विजय चाहिए। विजय का मार्ग सत्य का मार्ग ही हो, कदापि जरूरी नहीं। तभी तो धर्मराज तक अर्धसत्य का सहारा लेते हैं। और यही अर्धसत्य जिस एक चरित्र का निर्माण करता है वह प्रतिशोध और हिंसा से भरा हुआ अश्वत्थामा है। आज के आतंकवाद में मूर्तमान होता अश्वत्थामा। अपने बदबूदार रिसते जख़्म के साथ अमरत्व से शापित और प्रतिशोध की आग में धधकता–जलता अश्वत्थामा। वह रात के अंधेरे में पांडवों की शिविर में आग लगा देता है, और अपने पिता के हत्यारे दृष्टद्युम्न की हत्या कर देता है। शिविर में सो रहे समस्त जनों की हत्या के आनंद में कैसा लगता है अश्वत्थामा–

''धुंआ, लपट, लोथें, घायल घोड़े, टूटे रथरक्त, मेदा, मज्जा, मुंड, खंडित कबंधों में टूटी पसलियों में/विचरण करता था अश्वत्थामा सिंहनाद करता हुआ/नर रक्त से वह तलवार उसके हाथों में/चिपक गई थी ऐसे जैसे वह उगी हो उसी की भुजमूलों से।''[9]

युद्ध के सारे नियम तो पहले ही तोड़े जा चुके थे। अपने अवसर की संभावना देखते हुए सबने अन्याय का वरण किया। क्या अश्वत्थामा, क्या युधिष्ठिर। आतंकवाद हर युद्ध की अनिवार्य परिणति है। अगर आधुनिक विश्व की आतंकवादी प्रवृत्ति का सबसे प्रामाणिक चरित्र इस कृति में है तो वह अश्वत्थामा ही है, जिसमें आधुनिक आतंकवाद मूर्तमान होता है।

(ख)–विदुर का चरित्र पूरे महाभारत में तटस्थ और नीतिज्ञ के रूप में ज्ञात है। वे अंतिम समय तक युद्ध को टालते रहे।इस मिथकीय कृति में उनकी भूमिका क्या रह जाती है। वे तटस्थ हैं। नीतिज्ञ, आधुनिक शब्दावली में सर्वमान्य सर्वस्वीकृत बुद्धिजीवी।

युद्ध का आभूषण तलवार होती है, ऐसी कोई भी धातु जिससे तलवार और ताकत नहीं बन सकती युद्ध के लिए वह व्यर्थ है। उसी तरह ऐसा कोई ज्ञान या नीति की बाते अगर युद्ध के लिए कूटनीति नहीं बनती तो व्यर्थ है। प्रत्यक्ष युद्ध हो या उसकी छाया में चल रहा शीत युद्ध, दोनों ही दशाओं में विदुर सरीखे लोग एक ऐसे आभूषण मात्र होकर रह जाते हैं जिसकी किसी को कोई जरूरत नहीं।

युद्ध सिर्फ और सिर्फ विजय चाहता है इसीलिए उसके भीतर से निःसृत यथार्थ अकल्पनीय और असाधारण किस्म का होता है उसकी पहचान भी नीतिज्ञ के वश की बात नहीं रह जाती। फिर उससे समाधान की उम्मीद करना भी बेमानी होता है। युद्ध का मनोविज्ञान, युद्ध के मूल्य, युद्ध का समय सामान्य दिनों से एकदम भिन्न होता है। लोग भय और आशंका के बीच जीते हैं। साफ–सुथरी और सरल चीजें भी जटिल हो जाती हैं। अतः विदुर जहां नीतिज्ञ के रूप में

प्रसिद्ध थे, इस अंधे युग में अपने को असहाय और निरुपाय पाते हैं। वह खुद के बारे में कहते हैं–

''मैं विदुर हूँ कृष्ण का अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ पर मेरी नीति साधारण स्तर की है और युग की सारी स्थितियां असाधारण हैं और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है।''[10]

इसी तरह कुछ और जो युद्ध के बाद बचे रह गए हैं, मसलन धृतराष्ट्र हैं, गांधारी है, जिसने अपनी आंखों पर पट्टी बांध रखी है। यह न्याय देवी की पट्टी नहीं है, बल्कि एक स्त्री की नियति है। वह उतना ही देखना चाहती है जितना उसके दाम्पत्य में श्रेष्ठ और सम्भव है। अलग से इनका उल्लेख न करते हुए जरूरत पड़ने पर मैं इनके कथन उधृत करूंगी।

विदुर की तरह संजय भी युद्धभूमि से बाहर हैं। वे निस्पृह भाव से जो कुछ देखते हैं, उसकी 'रनिंग कमेंट्री' करते है। उनको कोई दिव्य शक्ति प्राप्त है। वे कर्मलोक से वहिष्कृत होकर महसूस करते हैं कि–

''एक छोटा निरर्थक शोभा–चक्र हूँदो बड़े पहियों के साथ घूमता हूँ।''[11]

युद्ध के बाद उनकी दिव्य शक्ति भी खो जाती है। शायद इतने बड़े युद्ध के बाद कुछ भी जो दिव्य था,पवित्र था उसके बचे रहने की संभावना मिट जाती है सिवा संहारकअग्नि वाणों के।

(ग)– युयुत्सु अंधायुग का सबसे मार्मिक और ट्रैजिक चरित्र है। दुर्योधन का सौतेला भाई। युध्द में उसे युधिष्ठिर का पक्ष धर्म और न्याय का पक्ष प्रतीत हुआ था, दूसरे पांडवों के पक्ष में ही कृष्ण भी थे। कृष्ण पर उसकी अविचल आस्था थी। युद्ध और कूटनीति के उस पूरे परिदृश्य में युयुत्सु सबसे भोला–भाला चरित्र है। वह पांडवों की तरफ से युद्ध में शामिल हुआ था। अब जब युधिष्ठिर राजा हो गए तब तब वह उन्हीं पांडवों द्वारा बार–बार अपमानित किया जाता है। अब युयुत्सु महसूस करता है कि–

''मैं उस पहिये की तरह हूँ जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा था पर जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ।''[12]

जब आप अन्याय का विरोध करते हुए संघर्ष करते हैं तो आपको युयुत्सु की जरूरत होती है। लेकिन जब सत्ता प्राप्त हो जाती है तो आप खुद भी उसी अधर्म के और अन्याय में संलग्न हो जाते हैं। हमारे युग और समय का यह रोज–रोज दुहगया जाने वाला बेहद परिचित यथार्थ है। युयुत्सु कौरवपुत्र होकर भी युधिष्ठिर के साथ जाता है। वह देखता है कि जिसे वह धर्म का पक्ष समझ रहा था, वह भी अर्धसत्य और अन्याय का ही सहारा लेता है। अंत में जब तालाब में छिपे दुर्योधन को खोजकर युद्ध के नियमों को पीछे धकेलते हुए भीम उसका वध करते हैं तो युयुत्सु विरक्ति से भर जाता है।

कौरव पुत्रों में अकेला बचा युयुत्सु लगातार भीम के व्यंग वाणों से अपमानित होता रहता है। कोई उसके लिए कुछ न टोकता। युधिष्ठिर लाचार से यह सब देख रहे होते हैं।

देखा जाय तो पूरे महाभारत में एक अकेला कौरवपुत्र युयुत्सु सबसे बड़ा धर्म का पक्षधर था, जबकि युधिष्ठिर को धर्मराज कहा जाता है। उस महायुद्ध में युधिष्ठिर का तो एक पक्ष था, और वह अपने पक्ष के लिए लड़े थे। द्रोणाचार्य को जीतने के लिये उन्होंने अर्धसत्य का सहारा लिया। उन्होंने नर और पशु का भेद मिटाया, लेकिन युयुत्सु ने अपने भाई दुर्योधन के खिलाफ जाकर युद्ध में भाग लिया। उसे विश्वास था कि कृष्ण और युधिष्ठिर का पक्ष ही न्याय का पक्ष है। विजय के बाद उसे भीम द्वारा बार–बार अपमानित होना पड़ता था। प्रजा उससे घृणा करती रही कि वह अपने ही भाइयों का हत्यारा है–

''वह देखो! भिखमंगे, लूले, लंगड़े, गंदे बच्चों की एक बड़ी भीड़ उसपर ताने कसती पीछे–पीछे चली आती है। आह, वह पत्थर खींच मारा किसी नेयुधिष्ठिर के राज्य में नियति है यह युयुत्सु की जिसने लिया था पक्ष धर्म का।''[13]

राज दरबार में उसे बार–बार अपमानित किया जाता है। प्रजा में उसके लिए घोर अनादर और उपेक्षा है।महाभारत के युद्ध में अस्त्र–शस्त्र को जो मान–सम्मान मिला, उसके चलते प्रजा भी अपने संभावित अस्त्रों का प्रयोग करने लगती है। अपमान से तिल–तिल टूट चुका युयुत्सु आत्महत्या कर लेता है। उसकी आत्महत्या पर सब हंसते हैं। प्रजा जन भी, भीड़ भी और युधिष्ठिर के सब भाई भी। कहीं कोई करुणा नहीं। कृपाचार्य कहते हैं–

''यह आत्म हत्या होगी प्रतिध्वनित इस पूरी संस्कृति में दर्शन में, धर्म में, कलाओं में शासन व्यवस्था मेंआत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।''[14]

प्रभुता का विसर्जन

श्रीकृष्ण के चरित्र को लेकर धर्मवीर भारती ने थोड़े

दिन बाद ही ''कनुप्रिया'' की रचना की। उस कृति के केंद्र में ब्रजभूमि की राधा और उनका प्रेम है। यानी एक ही चरित्र के इर्द–गिर्द बिल्कुल दो परस्पर विरोधी भाव। ''कनुप्रिया'' के केंद्र में प्रेम और समर्पण है तो अंधायुग के केंद्र में युद्ध और घृणा। बेहद मार्मिक ढंग से लिखी गयी इस कृति में कृष्ण का पूर्वपक्ष है, जहां उनके हाथों में बासुरी है, और गले में प्रेम लूरित मधुर धुनें हैं। पूरी ब्रजभूमि कृष्ण के मनोरम प्रेम में भींगी हुई है। इसी ब्रजभूमि में कृष्ण ने प्रेम के रास्ते प्रभुता अर्जित की थी। लेकिन ब्रजभूमि में किसी ने उन्हें प्रभु नहीं माना था। वहां आत्मीयता का भाव इतना सम्मोहक और प्रबल था कि किसी तरह की प्रभुता के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रह जाता। महाभारत के कृष्ण एक कूटनीतिक व्यक्ति हैं । अब उनके हाथों में अदृश्य सुदर्शन चक्र नाचता रहता है। वे इतिहास के ऐसे अकेले राजा हैं, जो युद्धभूमि में अपनी ही सेना के विपक्ष में खड़े थे। अपने को तटस्थ बनाये रखने की इतनी कुटिल और चतुर कूटनीति। सबको यह विश्वास है कि अगर कृष्ण चाहते तो महाभारत का युध्द रुक सकता था। उन्होंने वह महासंहार होने दिया। अपने प्रथम पुत्र और युद्धभूमि में बचे अंतिम वीर पुत्र, जिसे कृष्ण के इशारे पर भीम ने युद्ध के निर्धारित नियमों के विरुद्ध जाकर मार डाला था। रक्त और राजमुकुट के बीच जिसका माथा फट गया था और जिसे जंगली हिंस्र जीव नोच रहे थे, उसी वीर पुत्र के कंकालों के बीच गांधारीअपने जीवन भर के संचित आत्मबल के सहारे श्रीकृष्ण को शाप देती है–

''तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया प्रभु हो या परात्पर हो / कुछ भी हो सारा तुम्हारा वंश / इसी तरह पागल कुत्तों की तरह एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद किसी घने जंगल में साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे प्रभु हो पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।''[15]

कनुप्रिया में प्रेम के रास्ते चलकर श्रीकृष्ण ने जो प्रभुता अर्जित की थी, युद्ध और घृणा के चक्रव्यूह में फंसकर श्रीकृष्ण युयुत्सु के मोहभंग और गांधारी के श्राप से प्रभुता को खो देते हैं। उनके राज्य में भयंकर उत्पात होता है। महाभारत युद्ध से निकल कर अनास्था और पशुता जनता में फैलती जाती है। सब आपस में एक दूसरे से मारकाट करने लगते है। कृष्ण की प्रभुता का सत्व खत्म हो चुका था। अश्वत्थामा उनके बारे में बताता है–

''देख अभी आया हूँ सागर तट की उज्ज्वल रेती पर गाढ़े–गाढ़े काले खून में सने हुए यादव योद्धाओं के अगणित शव विखरे हैं जिनको मारा है खुद कृष्ण ने उसने किया है वही मैंने जो किया था उस रात फर्क इतना है मैंने मारा था शत्रुओं को पर उसने अपने ही वंश वालों को मारा है।''[16]

अर्धसत्य

युद्ध साध्य नहीं साधन होता है। न्याय और अन्याय के बीच लड़ा जाने वाला युद्ध अंततः दो पक्षों का युद्ध बन जाता है। फिर होता यही है कि दोनों पक्ष विजय के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर अन्याय का रास्ता चुन लेते हैं। इसलिये अपने परिणाम में हर युद्ध अन्याय की ही विजय होकर रह जाता है। कुरुक्षेत्र की इसी पृष्ठभूमि पर दिनकर ने लिखा–

''धर्म पराजित हुआ स्नेह का डंका बजा विजय का''[17]

धर्मवीर भारती अपनी इस कृति में विजय को एक क्रमिक आत्महत्या की तरह देखते हैं। युधिष्ठिर महाभारत में मिली जीत को महसूस करते हैं–

''अर्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव कर सिंहासन प्राप्त हुआ है जो यह माना कि उसके पीछे अंधेपन की अटल परंपरा है बाकी बचा मैं देखने को अंधियारे में निर्निमेष भावी अमंगल युग किसको बताऊं किंतु।''[18]

नाटक में इसके बाद थोड़ी देर के लिए धृतराष्ट्र गांधारी और कुंती का जिक्र आता है। सब हस्तिनापुर से बाहर जंगल चले जाते हैं एक धधकता हुआ बरगद उनके ऊपर गिरता है और उनकी भी मृत्यु हो जाती है। हस्तिनापुर रोज–रोज दुहराए जा रहे ऐसे अशुभ, अमंगल, अपशकुनों की लीलास्थली बन जाता है युधिष्ठिर कहते है–

''और विजय क्या है? एक लंबा और धीमा और तिल–तिल कर फलीभूत होने वाला आत्मघात और पथ कोई भी शेष नहीं अब मेरे आगे।''[19]

स्थापना और समापन के अलावा कुल पांच अध्यायों में लिखी गयी इस नाट्य कृति की कुल यही कहानी है। चरित्र चिर परिचित और जाने पहचाने हैं जैसा कि ''कुरुक्षेत्र'' के बारे में दिनकर ने कहा कि महाभारत की पुनर्प्रस्तुति उनका उद्देश्य नहीं है। वैसे ही भारती जी ने कहा है–

''अंधायुग कदापि न लिखा जाता, यदि उसका लिखना न लिखना मेरे वश की बात रह जाती।''

इन बातों से यह स्पष्ट है कि अपने समय और समाज

की समस्याओं को नए सिरे से समझने के लिए बीसवीं सदी के दूसरे दशक से हिंदी में निरंतर मिथकीय कृतियां रची जाने लगी। इसी कड़ी में ''अंधायुग'' भी लिखा गया। सामाजिक विघटन की प्रक्रिया जैसे–जैसे तीव्र होती जाती है, व्यक्तिवाद बढ़ता जाता है। युद्ध अंततः इसी व्यक्तिवाद की सामाजिक परिणति है। कामायनी का मनु भी एक व्यक्तिवादी चरित्र है। नवोदित जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए व्यक्तिवाद सबसे बड़ा खतरा है। सारस्वत प्रदेश में इड़ा के साथ मिलकर वह जिस उन्नत नगर की नींव रखता है, अपने व्यक्तिवाद के चलते वह उसी का ध्वंस भी करता है। प्रसाद जी श्रद्धा और समर्पण के रास्ते उसका परिष्कार करते हैं। उनका समाधान कितना वास्तविक है कितना काल्पनिक, मैं इसकी व्याख्या नहीं करूंगी। मैं सिर्फ उस एक सूत्र की पहचान रखना चाहती हूं जो क्रमशः अपने समय की इन तीनों महत्त्वपूर्ण कृतियों–कामायनी, कुरुक्षेत्र और अंधायुग में समान रूप से दिखाई देता है। इन तीनो कृतियों में महामृत्यु के बाद का जीवन है। यह महामृत्यु कामायनी में यह प्रलय के माध्यम से घटित होती है, जबकि कुरुक्षेत्र और अंधायुग में महाभारत का युद्ध इसका माध्यम बनाता है। मृत्यु के बाद फैले भय, सन्नाटे और दहशत के बाद का जीवन सत्य और सामाजिक यथार्थ इन कृतियों के विषय हैं।

इन अलग अलग कृतियों का रचना वर्ष अलग–अलग हो सकता है, लेकिन समय एक ही है। जीवन संदर्भ एक हैं। तीनों रचनाकारों ने सत्य को जानना चाहा है। प्रसाद जी लिखते हैं–

''और सत्य यह एक शब्द तू, कितना गहन हुआ है, मेधा के क्रीड़ा पिंजर का, पाला हुआ सुआ है। सब बातों में खोज तुम्हारी, रट सी लगी हुई है, किंतु स्पर्श से तर्क करों के,बनता छुई मुई है।''[21]

महाभारत में जिस धर्मराज को सत्य का मूर्तमान रूप समझा जाता था, वे एक ऐसे अर्धसत्य के प्रणेता होकर उभरते हैं कि सारी मानव जाति पशुता से भर जाती है। दुर्योधन सहित समूचा कौरव पक्ष, जो युद्ध में मारा जा चुका है, वे तो इस पशुता से दूर हैं, लेकिन जो विजेता थे, जो बचे रह गए, वे सबके सब इस अर्धसत्य जनित पशुता के कलंक को ढोते रहते हैं। यहां तक कि प्रभु कृष्ण भी अपने ही वंशजों की क्रूर हत्या करते हुए पशुवत हो जाते हैं।

ब्रह्मास्त्रों की छाया में

सन 40 से 60 के बीच का समय, चाहे यूरोप हो या भारत, हर जगह किसी अर्धसत्य की विनाशलीला चल रही है। समय की इसी पृष्ठभूमि पर यशपाल ने ''झूठा सच'' जैसे उपन्यास की रचना की। जब पूरी दुनिया हिरोशिमा और नागासाकी की अधजली लाशों में सत्य को खोज रही थी तो उसी समय भारत एक और गहरी त्रासदी से गुजर रहा था। जिस देश को सत्य और अहिंसा के रास्ते आजादी मिली थी, वही विद्वानों द्वारा प्रतिपादित द्विराष्ट्र के सिद्धांत वाले अर्धसत्य से बाकायदा हिंसा के रास्ते विभाजन को स्वीकार कर चुका था। तमस, अंधायुग, अंधेरे में, जैसी न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं का संबंध इस अंधता से है।

''लगता है कि मनुष्य के काम्य कर्मों का बोझ सहते सहते पृथ्वी थक रही है, वह बार–बार करवटें बदल रही है, जल आपे से बाहर है, आसमान में छिद्र बढ़ते जा रहे हैं और हवा कभी बड़ी देर तक चुप होकर डरा देती है, जैसे संसार की बची खुची साँसों के बारे में सोच रही हो। मन पर ठहरी सभ्यता ने जो विश्व बाजार रचा है उसमें अकेली छोड़ दी गयी ललचायी सी यह देह अपने आत्मभाव से विच्छिन्न होकर अपनी प्रकृति में ही लिथड़ी पड़ी है।''[20]

इतिहास का अंत या प्रभु की मृत्यु

आज पूरी दुनिया उत्तर आधुनिक समाज की दहलीज पर पांव रखकर आगे बढ़ रही है।कभी जर्मनी के विचारक नीत्से ने ''ईश्वर की मृत्यु'' की घोषणा की थी। अंधायुग में प्रभु की मृत्यु का दृश्य वर्णित है। सत्ता न्याय के तर्क को छोड़कर जैसा कि इस कृति के प्रारंभ में ही घोषणा कर दी गयी थी–''सत्ता होगी उनकी जिनकी पूंजी होगी।'' यही तो हमारे समय का, हमारे देश का रोज–रोज दुहराया जाने वाला यथार्थ है।

उत्तरआधुनिकता आज किसी भी तरह के सत्य को स्वीकार नहीं करती। सत्य के बरक्स वह अवधारणा को महत्त्व देती है। यही अवधारणा अलग–अलग समुदायों, समूहों का सत्य रचती है। जो न्याय की कसौटी पर अंततः अर्ध सत्य साबित हो रहा है। उत्तर आधुनिक विचारक देरिदा इतिहास का अंत, फिर कविता का अंत की घोषणा करते हैं। हम अपनी–अपनी अवधारणाओं से रोज नए–नए सत्य रचते हैं। एक का सत्य दूसरे के लिए अर्धसत्य है। धर्मवीर भारती देरिदा के अंत वाले सिद्धांत से आधी सदी पहले प्रभु के अंत की उद्घोषणा कर देते हैं। आज हम जिस समाज में जी रहे हैं वह अंधायुग की ही जीराक्स कॉपी है। न्याय की तलाश में हम सब युयुत्सु की तरह भटकते हुए अनास्था के गर्भ विवर

में शापित भटक रहे हैं। जब अंधायुग लिखा गया तब इतिहास में वह दौर नेहरू युग के सम्मोहन का दौर था। उस समय लिखी जा रही नयी कविता का मुख्य स्वर रोमैंटिक था। उसके विपरीत अंधायुग के भीतर गहरी अनास्था थी। ऐसी ही अनास्था पर उन्होंने अपनी लंबी कविता ''प्रमथ्यूगाथा'' लिखी थी।तब ऐसा लगना स्वाभाविक था कि वे मुख्य धारा के प्रवाह से अलग चल रहे हैं। लेकिन थोड़े ही दिनों बाद जब भारत–चीन युद्ध के बाद ''अकविता'' का साठोत्तरी दौर आया तो उसके भीतर यही अनास्था का स्वर प्रबल था। ''भक्तिकालीन काव्य का एक पहलू'' में जैसा कि मुक्तिबोध ने लिखा है–

''किसी भी कृति का मूल्यांकन करते हुए हमें देखना चाहिए कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों की टकराहट से पैदा हुई है? उसका अंतः स्वरूप क्या है ? और वह पाठक की किन रुचियों को विकसित करती है, और किन्हें नष्ट करती है?''[23]

मैंने जब भी और जितनी बार भी अंधायुग को पढ़ा, तब–तब यही लगा कि यह कहानी और इसका यथार्थ हमारे आसपास का यथार्थ है। कोई युद्ध किसी पक्ष के विजय के साथ कभी खत्म नहीं होता। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति में ही द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका लिख दी गयी थी। और अब भी हिरोशिमा या नागासाकी के बाद कोई युद्ध समाप्त नहीं हुआ है। सिर्फ युद्ध के मैदान और तारीखें बदलती रहती हैं। कभी ईराक तो कभी वियतनाम। ऐसे में ब्यास का यह कथन कि–

''ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का? यदि लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु! तो आगे आने वाली सदियों तक पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी।''[24]

इस कृति को पढ़ना एक ऐसे यथार्थ से गुजरना है जिसे हम अपने करीब, अपने टी वी के पर्दे पर, कभी अफगानिस्तान तो कभी रूस–यूक्रेन के रूप में देख रहे हैं। हमारे भीतर हर क्षण किसी न किसी प्रभु की मृत्यु हो रही है। और किसी भी तरह की आस्था से वंचित युयुत्सु की भांति हमारी नियति में आत्मघात के ही अलग–अलग स्तर रूपायित हो रहे हैं।

संदर्भ–

1– जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ–15, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–1

2– धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृष्ठ–1, किताब महल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–2

3– गजानन माधव मुक्तिबोध, रचना का तीसरा क्षण,एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ–46, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली–3

4– जयशंकर प्रसाद, चिंता सर्ग, पृष्ठ 25, कामायनी, साक्षी प्रकाशन, एस–16, नवीन शाहदरा, दिल्ली–32

5– रामधारी सिंह 'दिनकर', कुरुक्षेत्र, पृष्ठ–3, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना–16

6– धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृष्ठ–87, किताब महल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–2

7– उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–3

8– उपर्युक्त–––––– पृष्ठ–33

9– उपर्युक्त––––––पृष्ठ–64

10– उपर्युक्त–––पृष्ठ–59

11– उपर्युक्त––––––पृष्ठ–59

12– उपर्युक्त––––––पृष्ठ–58

13 उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–89

14– उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–90

15– उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–81

16– उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–99

17– रामधारी सिंह 'दिनकर', कुरुक्षेत्र, पृष्ठ–49 उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना–16

18– धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृष्ठ–85, किताब महल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–2

19– उपर्युक्त––––––––पृष्ठ–96

20– उपर्युक्त––––––––भूमिका

21– जयशंकर प्रसाद, कर्म सर्ग, पृष्ठ 85, कामायनी, साक्षी प्रकाशन, एस–16, नवीन शाहदरा, दिल्ली–32

22– ध्रुव शुक्ल, अद्वैत का विस्तार, समास–17

23– गजानन माधव मुक्तिबोध, समीक्षा की समस्याएं, पृष्ठ–112, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–

24– धर्मवीर भारती, अंधायुग, पृष्ठ–75, किताब महल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

पता : गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

मो. : 9452206059

खोज

❑ आशा पांडेय

दुनिया चाहे कितनी भी भरी हो, पर अपना दिल खाली हो तो सब ओर खाली ही खाली लगता है। शहर के सबसे व्यस्त होटल में, ग्राहकों की सेवा में एक टेबल से दूसरी टेबल तक दौड़ता–भागता छोटू अपनी उदास आँखों को भरसक मुस्कान में लपेटता, किंतु दिल में छाई उदासी को छिपा नहीं पाता। होटल का मैनेजर झिड़कता है, 'क्या हमेशा रोनी सूरत बनाये रखता है ? ग्राहकों के सामने प्रसन्न होकर जाया कर, वो यहाँ खाने–पीने मौज–मस्ती करने आते हैं, तेरी रोनी सूरत देखने नहीं... साला भूख भी लगी हो तो मिट जाये तेरी सूरत देखकर।'

छोटू सम्भलता है, मुस्कुराता है, पर न जाने क्यों मुस्कुराते ही उसकी आँखें गीली हो जाती हैं। मैनेजर मन ही मन बड़बड़ाते हुए हिकारत से उसे देखता है, 'साला, बारहों मास चौबीसों घंटे दुःख के पहाड़ में दबा रहता है, आदत पड़ गई है साले की चेहरे पर बारह बजाने की।'

दस साल का था छोटू जब किसी रिश्तेदार ने उसे यहाँ रखवा दिया था। शुरू में टेबल पोंछने का काम मिला था उसे, पर अब पिछले दो–तीन सालों से भोजन का आर्डर लेने, सर्व करने का काम मिल गया है। उसके साथी उससे ईर्ष्या करते हैं, कभी–कभी बोल भी देते हैं, 'तूने ऐसा क्या किया जो तेरा प्रमोशन हो गया, हम तो सालों से बस कप प्लेट माँजने में ही अटके पड़े हैं।'

अठारह साल के छोटू को न पहले की स्थिति से कोई निराशा हुई थी न अब के प्रमोशन से कोई खुशी हुई है। सिर्फ काम का ही तो प्रमोशन हुआ है। जिम्मेदारी बढ़ गई है, काम बढ़ गया है, पगार तो वहीं की वहीं है, बल्कि साथ काम करने वाले लडकों से कुछ कम ही है। वैसे छोटू इस होटल के प्रति कृतज्ञ है, इस होटल ने उसे बहुत सहारा दिया है। जब वह यहाँ शुरू–शुरू में काम पर लगा था तो बहुत झिझकते हुए होटल मालिक से इतना ही कहा था कि पैसा आप चाहे जो दें, पर घर जाते समय दो खुराक खाना दे दीजियेगा। साथ आये रिश्तेदार ने होटल मालिक को छोटू की पूरी स्थिति बता दी थी, मालिक ने छोटू को काम पर रख लिया था और हर दिन घर जाते समय उसे दो खुराक खाना मिलने लगा।

छोटू सुबह आठ बजे होटल पहुंचता है और रात को आठ बजे उसे छुट्टी मिल जाती है। दो खुराक खाना लेकर वह घर पहुंचता है। खाना घर में रखकर माँ को खोजने निकलता है।

जब छोटू पहले पहल होटल जाने लगा था तब माँ दिन भर घर खुला छोड़कर इधर–उधर

घूमती रहती थी। बस्ती के कुछ लोग घर खुला देखकर खाने पीने का सामान, राशन आदि, जो थोड़ा बहुत छोटू लाकर रखे रहता था, निकाल ले जाते थे। बाद में छोटू माँ को घर के सामने चबूतरे पर बैठाकर घर में ताला लगाने लगा। शुरू–शुरू में तो माँ दिन भर चबूतरे पर बैठी रहती थीं, किंतु बाद में सरकारी अस्पताल तक की सड़क पर घूमने लगीं।

छोटू को माँ कभी अस्पताल के गेट पर, कभी अस्पताल के बरामदे में तो कभी अस्पताल के बाहर खड़े बिजली के खम्भे के पास बैठी हुई मिल जाती है। छोटू चुपचाप माँ का हाथ पकड़ता है और घर आ जाता है। घर पहुँचकर पहले साबुन से माँ का हाथ–पैर धुलवाता है, कपड़े बदलवाता है फिर खाने का पैकेट खोलकर उनके सामने रख देता है। माँ पहले खाने को देखती है फिर छोटू को। जब छोटू भी साथ खाना खाने बैठ जाता है तब माँ पहला कौर तोड़ती है।

पिता के जाने के बाद तथा उसकी नौकरी लगने के पहले तक उसकी नानी उसके घर का खर्च चलाती थीं। फिर नानी भी चल बसीं और माँ एकदम अकेली हो गईं। अकेलेपन ने ही माँ को एकदम बदल दिया होगा और वह चुप होते होते एकदम से चुप हो गईं। पिछले कई सालों से छोटू माँ को ऐसे ही देख रहा है– एकदम चुप। उसे याद नहीं कि माँ ने बोलना अचानक बंद कर दिया था या धीरे–धीरे। अब तो वह किसी के कुछ पूछने या कहने पर भी बस चुप ही रहती है। पड़ोसी कहते हैं कि उसकी माँ पहले से ही मोटी बुद्धि की थी जब उसके पिता उसकी माँ को छोड़कर कहीं चले गए तब वह पागल हो गई, पर छोटू नहीं मानता कि उसकी माँ अब पागल हो गई है, भला कोई पागल माँ भोजन सामने मिलने पर अपने बेटे के भी बैठने का इंतज़ार करेगी !... इतना ही नहीं, उसे याद है, जब वह छोटा था, पड़ोस में राजू के घर गया था, उसकी माँ पूरी तल रही थीं, छोटू ललचाई नज़रों से उन्हें देख रहा था। राजू की माँ का ध्यान जब छोटू की ओर गया तो उन्होंने उसे घुड़क कर भगा दिया। उसने घर आकर रूँआसी आवाज़ में माँ को सारी बात बताई। माँ उठी, आटे में चुटकी भर नमक मिला कर पूरी तलकर छोटू के सामने रख दी ... एक रात छोटू के कान में दर्द शुरू हो गया था तब उसकी माँ पूरी रात उसके कान में तेल गरम करके डालती बैठी रह गई थीं।

क्या कोई पागल माँ ये सब कर सकती है !!

यह पिता और नानी के जाने का गहरा सदमा ही है जिसने माँ को बदल दिया, कोई कुछ भी कहे पर छोटू यही मानता है। छोटू का घर ! हाँ ये घर ही तो है उसका ! मिट्टी की दीवार और बरसात में टपकते, टूटे फूटे कवेलू की छत वाले ये छोटे–छोटे दो कमरे ! उसके पुरज़ोर सुकून की सबसे अच्छी जगह। कवेलू की छत उजड़ते–उजड़ते इतनी उजड़ गई है कि अगर इस बरसात के पहले उसकी मरम्मत न करवा ली गई तो कमरे की कोई जगह ऐसी नहीं बचेगी जहाँ पानी न टपके। पिछले दो बरसात से छोटू होटल मालिक से कुछ एडवांस पैसे मांग रहा है, इस बार उसने देने को कहा है। अगर पैसा मिल जायेगा तो वह टीन की छत रखवा देगा, कुछ वर्षों की राहत मिल जाएगी उसे।

कभी उसकी बस्ती शहर से दूर हुआ करती थी, पर अब शहर ने फैल कर इसे अपने अंदर समेट लिया है। बस्ती की शुरुआत में ही छोटू का घर है और उसके घर के सामने एक विशाल पीपल का पेड़ है। पेड़ की जड़ के पास मिट्टी का एक चबूतरा बना है। ये चबूतरा बस्ती के बड़े–बूढों, औरतों, बच्चों के फुर्सत के समय का साथी है, किंतु छोटू के लिए ये चबूतरा बहुत बड़ा सहारा है। गरमी की रातों में जब कमरे उमस से भभकने लगते हैं तो छोटू अपनी चादर लेकर इसी चबूतरे पर आ जाता है। बाहर की हवा उसे सुकून तो देती है,लेकिन माँ को कोठरी में छोड़कर आना उसके लिए खासा कष्टदायक होता है। वह हर थोड़ी देर में कोठरी में झांक आता है।

इधर छोटू कई दिनों से देख रहा है कि माँ अपने दोनों हाथों को सिर में डाले खुजलाती रहती है। पिछले कुछ सालों से, जब से छोटू समझदार हुआ है, जब भी ऐसा होता था तब छोटू जुएँ मारने की दवा माँ के सिर में लगा देता था, पर इस बार ऐसा नहीं कर पा रहा है, क्योंकि पिछली बार जब माँ के सिर में दवा लगाई थी तो माँ ने सिर खुजाते हाथों से अपनीं आखें भी खुजला ली थीं आँखें एकदम लाल हो गई थीं और उसमें से पानी बहने लग गया था जो रुक रुक कर हफ्ते भर बहता ही रहा था। छोटू डर गया, माँ को डाक्टर के पास ले गया। डाक्टर ने छोटू को मना किया कि आइन्दा वह ऐसी कोई भी दवा माँ के सिर में न लगाये।

अब माँ के जुओं को कैसे निकाले छोटू ! दो तीन दिन से वह माँ को बैठा कर कंघी से झाड़–झाड़ कर जुएँ निकालता रहा, माँ के सिर की जुएँ कुछ कम हुई किंतु अब छोटू के सिर में खुजली शुरू हो गई। अब होटल में काम करते हुए भी उसका हाथ सिर की ओर जाने लगता है जिसे वह ज़बरदस्ती रोके रहता है, किंतु उस दिन अनहोनी हो ही गई। ग्राहकों से भरे होटल में जब वह एक टेबल से आर्डर

लेकर रसोईं की तरफ आ ही रहा था कि तभी चेतन उसकी ओर देख कर तेज़ से बोल पड़ा, अरे, जुएँ–जुएँ। चेतन को जब तक अपनी गलती का एहसास हुआ और वह संभला तब तक उसके आस–पास खड़े कर्मचारी छोटू को घूरने लगे। गनीमत यह थी कि ग्राहकों का ध्यान इस बात पर नहीं गया, किंतु बात मैनेजर तक पहुंच ही गई। छोटू को बहुत डांट पड़ी। शर्म के मारे दूसरे दिन वह होटल नहीं गया बल्कि अपनी माँ का हाथ पकड़कर उसे घसीटते हुए नाई की दुकान पर पहुँचा। माँ उसके तमतमाए चेहरे को देखकर डर गई थी और चुपचाप उसके साथ खिंची चली जा रही थी। नाई उसकी माँ को देखकर बिदक गया, 'निकलो दुकान से बाहर, मैं पागलों के बाल नहीं काटता हूँ।'

छोटू ने उससे बहुत मिन्नत की, किंतु उसने नहीं सुना। छोटू दूसरी दुकान पर गया पर वहाँ भी वही हाल। एक के बाद दूसरी दुकान में घूमता हुआ छोटू अंत में थक–हार कर घर वापस लौट आया, और निराश होकर पीपल के नीचे ही बैठ गया। कुछ देर निराश बैठने के बाद उसे उपाय सूझा। वह झट उठा और बाजार से कैंची खरीद लाया और माँ को चबूतरे पर बैठा कर उसके सिर के बाल काटने लगा। कैंची कहीं एकदम बालों के जड़ के नजदीक लगती कहीं कुछ ऊपर से ही बालों को काट देती। पूरे बाल कट गए, छोटू ने चैन की साँस ली, पर बालों के बिना माँ का सपाट सिर उसे डरावना लग रहा था। उसने कंधे पर लटक आई माँ की साड़ी को उसके सिर पर ओढ़ा दिया। माँ चुपचाप डरी सहमी कभी उसकी ओर देखती तो कभी अपने कटे बालों की ओर।

अँधेरा हो गया था। छोटू पीपल के नीचे से उठा और कमरे में जाकर बल्ब जलाया। पीली रोशनी कमरे में फैल गई। आज सुबह से माँ–बेटे ने कुछ खाया नहीं था। छोटू का मन दुखी था। भूख का एहसास उसे नहीं हो रहा था, कुछ बनाने का मन भी नहीं था, किंतु माँ की भूख का ध्यान आते ही वह उठा और शर्ट बदल कर बाहर निकल गया। बस्ती के मोड़ पर एक ठेला गाड़ी लगती है, जिस पर वडा–पाव, समोसा कचोरी आदि मिल जाती है। छोटू वड़ा–पाव खरीद लाया और माँ के आगे खोलकर रख दिया। माँ चुपचाप उसे देखने लगी, रोज़ भोजन के पहले हाथ–मुँह धुलवाता है और आज सीधे खाने को कह रहा है ! अभी भी नाराज़ है क्या ! माँ असमंजस में है, किंतु छोटू के बार–बार कहने पर वह वड़ा–पाव खाने लगी।

अगला दिन ! छोटू आज भी होटल नहीं जाना चाहता था, किंतु उसके पास कोई चारा नहीं था, नौकरी करनी थी। वह बेमन से उठा, पोहा बनाकर माँ को खिलाया, खुद भी खाया और माँ को चबूतरे पर बैठाकर पानी की बोतल उसके पास रख दी और कमरे में ताला बंद करके होटल चला गया।

पहुंचते ही, बिना बताये घर बैठ जाने के कारण उसे आज भी मैनेजर की डांट खानी पड़ी। वह दिन भर काम करता रहा और छुप–छुप कर रोता रहा। बचपन से अब तक वह छुपकर ही रोया है। उसके आंसू पोंछकर उसे चुप कराने वाला था ही कौन जो वह किसी के सामने रोता। आज रात नौ बजे जब उसे छुट्टी मिली तब भी उसके कदम घर की ओर उठ नहीं रहे थे। होटल से निकल कर कुछ देर वह मोड़ वाली पुलिया पर बैठा रहा फिर उठ कर कदमों को धीमी गति से आगे बढ़ाते हुए घर पहुँचा। घर पहुंचते–पहुँचते रात के दस बज गए। नित्य की तरह वह कमरे में खाना रखकर माँ को खोजने निकला। अस्पताल तक गया, उसके गेट और बरामदे में देखा। बाहर आकर बिजली के खम्भे के पास देखा, माँ कहीं नहीं थी। रोज यहीं तो मिल जाती थी, आज कहाँ चली गई !!

अस्पताल के आस–पास खोजने के बाद छोटू उसी रास्ते से घर तक आया, सोचा शायद माँ घर चली गई हो ! पर माँ घर नहीं आई थी। अब छोटू को चिंता हुई। कल से माँ के साथ उसका व्यवहार अच्छा नहीं है, माँ ने दिल से लगा लिया क्या उसकी बातों को ! इतने सालों से माँ ने अपना स्थान नहीं बदला था, आज कहाँ चली गई ! रात में छोटू खोजे भी तो कहाँ खोजे !

छोटू फिर से अस्पताल गया, दूसरे रास्ते से खोजते हुए फिर घर आ गया और निराश होकर चबूतरे पर बैठा ही था कि पीछे से आवाज आई, तू इतना नाराज हो गया ? आज मुझे खोजने भी नहीं आया ?

छोटू चौंककर पलटा, माँ थी ! तो माँ उसका रोज़ इंतजार करती थीं ! आज जब समय पर नहीं पहुँचा तो माँ दुःखी हुईं ! इतनी दुःखी हुईं कि बोल पड़ी !!!

छोटू दौड़कर माँ के गले लग गया, आज ही तो तुझे खोज पाया हूँ माँ ...

तू बोली है माँ ! मुझसे बात की है !! अब कभी चुप मत होना, मुझसे बोलना माँ , ऐसे ही बोलना।

माँ के गले लगा छोटू धार–धार रो रहा है और माँ उसे चुप करा रही है। ◆

पता : 5, योगिराज शिल्प, आई.जी. बंगला के सामने,
कैंप, अमरावती–444602 (महा.)
मो. : 9422917252

खबरदार जो लड़की कहा

❑ सियाराम पांडेय 'शांत'

वह अकेली लड़की नहीं जो सपनों में जीती थी कुछ अलहदा और विलक्षण करना चाहती थी कुछ ऐसा करना चाहती थी जिसकी चर्चा देश–दुनिया में हो, लेकिन करे क्या, यह उसे अभी सूझा नहीं था। वह अल्हड़, अलमस्त अपने में ही खोई रहती। मन में कोई विचार आता तो अंतर्मन से खिल उठती और फिर पूरे घर–आंगन में गूंज जाती उसकी उन्मुक्त हंसी।

बड़े–बूढ़े पहले तो प्रसन्न होते, लेकिन जब उसकी हंसी का ग्रॉफ बढ़ने लगता तो विचलित हो जाते। उसे डांट भी लगाते और इसके बाद छा जाती गुमसुम खामोशी, जिसका अंदेशा उन्हें पहले से होता। कई दिनों तक मौन रहती। न उद्धव का लेना न माधव का देना। फिर शुरू होती उसकी मान–मनौव्वल लेकिन वह पहले से ज्यादा अदरा जाती। कुछ न बोलती। सिर झुकाए किताबों में डूबी रहती, कागज पर उल्टी–सीधी रेखाएं खींचती या फिर आसमान की ओर टकटकी लगा देती। मानो गहन चिंतन में हो और भावनाओं की उलझी गुत्थियों को पूरी तरह सुलझा कर ही दम लेगी। अनुभव में पगी परिजनों की सजग आंखें प्रतिकार के इस बाल विज्ञान से सर्वथा परिचित थीं। उन्हें रूठे बच्चों को मना लेने की हर सम्भव महारत जो हासिल थी।

घर के बुजुर्ग समझाते। बेटा!यह रुठने और नाराज होने का वक्त नहीं है। संभल कर चलने, हंसने–बोलने का वक्त है। तू लड़की है। अभी न समझेगी तो कब समझेगी। यह लड़की वाली बात उसे चुभ जाती। उसकी पसंद के खांचे में फिट न बैठती। झल्ला उठती–क्या लड़की–लड़की की रट लगा रखी है। लड़की हुई तो क्या, मैं किसी लड़के से कम हूं? दौड़ करा लो, मुझसे आगे निकल जाए एक भी छोकरा तो जानूं। मुझसे पहले गणित के सवाल हल करके दिखा दे तो जानूं। लड़की हूं, इसका मतलब यह तो नहीं कि मैंने बराबरी का अधिकार खो दिया है। लड़कियां आज अंतरिक्ष में जा रही हैं और आप लोग मुझे घर–आंगन तक समेट देना चाहते हैं। मैं ऐसा कभी नहीं होने दूंगी। मैं पढूंगी। आगे बढूंगी। संजय भैया के साथ स्कूल जाऊंगी। समझे बाबा! अब मुझे लड़की मत कहना। मैं लड़का हूं। चश्मा पोछिए, ठीक से तो देखिए। रामदीन हंस पड़े।

6 साल की पोती प्रभा को अपने अंक में भर लिया। उनकी आंखें सजल हो उठीं। उनकी आंखों के सामने प्रभा के पिता देवीदीन का चेहरा साकार हो उठा। बचपन में वह भी तो कुछ ऐसा ही कहता था। हंस पड़ते। कहते—बिल्कुल अपने बाप पर गई है।

ठीक कहा बिटिया! तू कितनी समझदार है।

फिर बिटिया कहा। आप मानते क्यों नहीं? मैं लड़की नहीं, लड़का हूं और उससे भी ज्यादा।

ठीक है, मेरा राजा बेटा। लो कान पकड़ लिया। सुधार ली अपनी गलती। अब नहीं कहूंगा लड़की। ऐ लड़के! जरा एक लोटा पानी लाना। कुल्ला कर लूं। अपनी दादी से कहकर चाय केतली में चढ़वा दे तो सुबह की बोहनी हो जाए।

प्रभा चहचहा उठी। बाबा ये हुई न पते कि बात।

दादी, चाची, अम्मा सबने उसके सुर में सुर मिलाया। वक्त की नजाकत भी यही कहती थी, इसलिए उसे परिवार का साथ तो मिलना ही था। वह बहुत खुश थी। उसके कहने पर दादी ने केतली में चाय पका दी थी और प्रभा अपने दादू को चाय दे आई। रामदीन और उनका पूरा परिवार प्रभा की इस बाल सुलभ अदा पर मंद—मंद मुस्कुरा रहा था। चाय की चुस्की लेते ही रामदीन बोले—वह बेटा! दिल खुश कर दिया। आज दिन भर काम करूंगा बिना थके, बिना रुके। अपने बेटे के लिए कमाना जो है। इसे पढ़ाना जो है। प्रभा खुशी से इठलाती हुई दादू की गोद में लेट गई।

समय का पहिया अपनी गति से घूमता रहा। प्रभा ने दिल लगाकर पढ़ाई की। हर क्लास में टॉप आई। हाईस्कूल और इंटर में वह पूरे यूपी में टॉप पोजिशन पर रही। मुख्यमंत्री के हाथों से टैबलेट और लैपटॉप मिले, जिससे उसके अध्ययन की राह और आसान हो गई और एक दिन वह भी आया जब आईआईटी में प्रवेश हेतु उसका चयन हो गया। सारे रिश्तेदार—नातेदार, परिचित उसे बधाई देने आने लगे।

रामदीन की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। उन्हें प्रभा से कुछ ऐसी ही उम्मीद भी थी लेकिन इसी के साथ उनकी चिंता भी बढ़ती जा रही थी। इलाहाबाद में उसका प्रवेश होना होता तो और बात थी लेकिन उसे दूसरे शहर में रामभरोसे छोड़कर आना उन्हें गंवारा नहीं था। उन्हें लग रहा था कि लड़की है, अकेले कैसे रहेगी? इस बीच कुछ ऊंच—नीच हो जाए तो वह समाज में क्या मुंह दिखाएगा। वैसे भी जिस तरह का बेढंगा समाज है, उसमें उनकी चिंता जायज भी थी। रामदीन दूसरे अभिभावकों से अलग कैसे हो सकते थे? प्रभा के पिता नहीं थे, जब वह तीन साल की थी तभी उसके पिता देवीदीन की एक सड़क हादसे में मौत हो गई थी। पूरा परिवार सदमें में आ गया था। जो बेटा घर का सहारा था, वही नहीं रहा लेकिन रामदीन ने हिम्मत नहीं हारी। देवीदीन के बेटी—बेटी को अनाथ होने का अहसास नहीं होने दिया।

दो बिस्वा जमीन बेचकर उन्होंने प्रभा की फीस व हॉस्टल में रहने की व्यवस्था पहले ही कर ली थी लेकिन, प्रभा को अकेले हॉस्टल में छोड़ने को लेकर वे उहापोह में थे। अपने दिल को समझा नहीं पा रहे थे। खैर, जैसे—तैसे वह घड़ी भी आ गई। प्रभा के साथ वे हिमाचल प्रदेश के मंडी जा रहे थे। रामदीन ने पूरी जिंदगी अपना इलाहाबाद नहीं छोड़ा था। देवीदीन हाईस्कूल से आगे बढ़ता तो शायद ऐसे अवसर बनते भी लेकिन वह तो हाईस्कूल के बाद ही रेलवे में लग गया था। बाबू बन गया था। कहते हैं कि छोटी सफलताएं बड़ी तरक्की के मार्ग की बड़ी बाधा होती हैं। देवीदीन का बेटा संजय भी इंटर से आगे न बढ़ा और मृतक आश्रित कोटे से रेलवे की नौकरी पा गया। नौकरी मिल गई तो आगे पढ़ने की जहमत वह उठाता ही क्यों? वह अपनी ही दुनिया में खुश था लेकिन रामदीन को प्रभा के बहाने ही सही, देशाटन का सुख मिल रहा था। चिंता, हर्ष और उद्योग की गंगा, यमुना, सरस्वती का यह त्रिवेणी संगम रास्ते भर उसके दिल—दिमाग में हलचल पैदा करता रहा।

मंडी पहुंचकर, वहां का प्राकृतिक सौंदर्य देखकर रामदीन का मन प्रफुल्लित हो उठा लेकिन यह खुशी बहुत देरतक उनके पास टिक न सकी। उनका दिल बैठता नजर आया। वे जब प्रभा के हॉस्टल पहुंचे और उसके जैसी कई लड़कियों को देखा तो उन्हें थोड़ी तसल्ली हुई। प्रभा भी नई—नई मिली लड़कियों से घुल—मिल गई थी। उसे हॉस्टल में छोड़ते वक्त रामदीन बिलख पड़े। बोले—बिटिया अपना ध्यान रखना। ईश्वर तुम्हारी मदद करे। दादू खबरदार! जो बिटिया कहा। बेटा कहिए। प्रभा की यह प्यार भरी डांट उन्हें अच्छी लगी। जिस लड़की को वे अपने सीने से लगाए रखते, उसे छोड़कर यूं अकेले इलाहाबाद जाना

उनके लिए सरल नहीं था लेकिन नियति की इच्छा भी तो यही थी। क्या करते? प्रभा भी उनके मनोभावों को समझ रही थी। उनके दिल की हलचल को नापने का प्रयास कर रही थी। उसने अपनी शर्ट के कोने से रामदीन की आंखों के आंसू पोछे और कहा—मेरे बहादुर दादू! बस चार साल की ही तो बात है। कब बीत जाएंगे, पता भी नहीं चलेगा। आप धैर्य रखिए। दादी, अम्मा और चाची को समझाइएगा। मुंह बिल्कुल नहीं लटकाना दादू। जानते हैं न कि मुझे आंसू हरगिज पसंद नहीं। अबकि रामदीन हंस पड़े। ठीक कहती है बेटा, जैसे तू कभी रोई ही नहीं। ठीक है, चलता हूं, अपना ध्यान रखना। प्रभा ने झुककर रामदीन के पैर छुए और वे इलाहाबाद रवाना हो गए।

चार साल में शायद ही कोई दिन ऐसा बीता हो, जब उन्होंने प्रभा की चिंता न की हो। कैसी होगी, क्या खाती होगी। हालांकि उन्होंने उसके हॉस्टल की व्यवस्था देखी थी लेकिन अभिभावक का हृदय तो बच्चों को लेकर संवेदनशील और कमजोर ही रहता है। जरूरत से कुछ ज्यादा ही धड़कता है। रामदीन के साथ भी कुछ ऐसा ही था। पहले साल प्रभा ने अपने कॉलेज में टॉप किया था। प्रिंसिपल ने फोन करके रामदीन को बधाई दी थी। रामदीन का सीना गर्व से चौड़ा हो गया था। चाहता तो था कि उड़कर अभी मंडी चला जाए और अपनी पोती को गले लगा ले, उसे दुनिया—जहान का सारा आशीर्वाद दे डाले लेकिन जिम्मेदारियों और आर्थिक विवशता की बेड़ियों ने जैसे उसके पैर जकड़ रखे थे।

प्रभा को उसी साल एयरटेल की छात्रवृत्ति मिल गई थी। इससे उसके अध्ययन में बहुत कुछ आसानी हो गई थी। चौथे साल में उसका चयन अमेरिका की एक कंपनी के लिए हो गया था लेकिन काम उसे गुड़गांव में रहकर ही करना था। पूरे ढाई करोड़ रुपये का वार्षिक पैकेज था। यह सूचना फोन पर उसने सर्वप्रथम अपने दादा रामदीन को ही दी थी। रामदीन खुशी से उछल पड़े। शाबाश बेटी, कमाल कर दिया। दिल खुश कर दिया तूने अपने दादू का। प्रभा ने फोन पर उन्हें झिंझोड़ा। दादू ! मैं आपसे बात नहीं करती। मुझे फिर बेटी कहा। ऐसी बात नहीं बेटा। बूढ़ा हूं न कभी—कभी जुबान फिसल जाती है। कान पकड़ता हूं फिर बेटी नहीं कहूंगा बेटा। प्रभा खिलखिला उठी। यह रही न मर्दों वाली बात। मेरे बहादुर दादू। और इसके बाद उसने अपनी दादी, अम्मा, चाची और भाई संजय से जी भर कर बातें की। उनसे अपनी खुशियां साझा की। फोन पर तो वह अक्सर उनसे बात करती थी लेकिन आज की बात का तो मजा ही कुछ और था? आज की बात सभी के मन में मिश्री घोलने जैसी थी।

खैर, रिजल्ट आते ही प्रभा ने नौकरी ज्वॉइन कर ली थी। एकादशी का दिन था। रामदीन और उनकी पत्नी पार्वती ने व्रत कर रखा था। घर में सत्यनारायण भगवान की कथा हो रही थी। कथा की समाप्ति के बाद रामदीन लोगों को प्रसाद बांटने के लिए ज्यों ही उठे तो उनका सामना एक बेहद ही जानी—पहचानी आवाज से हुआ। दादू! पहले प्रसाद मुझे। फिर किसी और को देना। प्रभा को अपने सामने देखकर रामदीन के नेत्र भर आए। वैसे रामदीन हर एकादशी पर सत्यनारायण भगवान की कथा सुनते थे और हर बार पहला प्रसाद प्रभा ही लेती थी। वे अपने पौत्र संजय को पहले प्रसाद देना चाहते तो वह नाराज हो जाती। रामदीन को वे उसके बचपन वाले पुराने दिन याद आ गए। रामदीन ने आगे बढ़कर उसे चरणामृत और चूरन दिया। इसके बाद जब वे औरों को प्रसाद बांटने लगे तो प्रभा ने कहा कि दादू प्रसाद इन्हें भी दे दो। रामदीन अचकचा गए। किसे? इन्हें। प्रभा ने कार में बैठे युवक की ओर इशारा किया। रामदीन ने बेहद संकोच भरे लहजे में पूछा कि यह कौन हैं? प्रभा हंसते हुए बोली कि मेरी ही कंपनी में मुझसे बड़े अफसर हैं। इनसे मिलिए। रामदीन ने उन्हें भी प्रसाद दिया और बाइज्जत उन्हें कार से नीचे उतारकर घर में ले आए। प्रभा ने कहा कि दादू, मैं इनसे शादी करना चाहती हूं। आप बस आशीर्वाद का हाथ मेरे सिर पर रख दीजिए। रामदीन की खुशी का ठिकाना न रहा। पत्नी और बहू की राय जानी और रिश्ते को हां कह दी। तय समय पर दोनों की शादी हो गई।

प्रभा खुश है अपने परिवार के साथ। उसे अपने दादू की याद आती है और रामदीन को प्रभा की। फिर रामदीन मन ही मन बड़बड़ाने लगते हैं। ठीक ही तो कहा था कि वह लड़की नहीं, लड़का है। लड़की वाले काम तो उसने किए नहीं। उसके सारे काम लड़कों जैसे ही हैं। यहां तक कि उसके सपने भी। इसी के साथ रामदीन सोच की अतल गहराइयों में कहीं खो गए। ◆

पता : एच.आर.ए.—2, खसरा नंबर 259 ,रॉयल ग्रीन सिटी कॉलोनी, लौलाई, चिनहट, लखनऊ, उत्तर प्रदेश।
मो. : 7459998968

मुट्ठी भर आसमान

❑ मीनाक्षी सिंह

हॉल पूरा भर चुका था, बस आगे की पंक्ति में लगे सोफे पर कुछ सीटें खाली थीं। एक अंजान निमंत्रण पत्र के मिलने पर सलोनी इस विमोचन समारोह में बस इस वजह से आई थीं क्योंकि उसकी माँ भी इस मौके पर शिरकत कर रही थी। सलोनी को उसी आगे की पंक्ति में बैठाया गया।

मंच पर रश्मिप्रिया की किताब के विमोचन के लिए चार साहित्यकार पहुंच चुके थे, परंतु यह रश्मिप्रिया है कौन..?? इस प्रश्न के कशमकश और उधेड़बुन के चक्रव्यूह में सलोनी पिछले सात दिनों से चाहे–अनचाहे फंसी हुई थी, जब उसे रश्मिप्रिया नामक किसी महिला के किताब के विमोचन हेतु निमंत्रण पत्र मिला था।

जब इस संबंध में उसने दिल्ली में रह रही अपनी माँ शिल्पा जी से बात की तो उन्होंने बताया कि उन्हें भी निमंत्रण मिला है। उन्होंने रश्मिप्रिया के नाम से अंजान होने की बात कही और सलोनी को दिल्ली आने की सलाह दी.. इस मोह को सामने लाते हुए कि इसी बहाने माँ–बेटी की मुलाकात हो जाएगी और बेटी माँ से मिलने का लोभ संवरण नहीं कर पाई। मेरठ से दिल्ली निकल पड़ी, आग्रह भरे शब्दों में निमंत्रण भेजने वाली रश्मिप्रिया की ''मुट्ठी भर आसमान'' नामक किताब के विमोचन में।

शिल्पा जी भी पहुँच चुकी थी। आते ही सलोनी से गले मिली और उसकी बगल वाली सीट पर बैठ गई। प्रोग्राम शुरू होने का समय हो चुका था, थोड़ी देर बाद रश्मिप्रिया का नाम अनाऊंस हुआ। शिल्पा जी ने भावुक दृष्टि से सलोनी पर डाली.. उसका हाथ दबाया और उठकर मंच की तरफ चल पड़ी। सलोनी अवाक.. बस देखती रह गई। खुशी के इस लम्हे में आश्चर्य का पलड़ा भारी था। अस्फुट सी आवाज़ में सलोनी के होंठ बुदबुदाए.. ''मेरी माँ, शिल्पा.. रश्मिप्रिया.. यह कैसे हो सकता है !''

अचानक मिली इस अप्रत्याशित और आश्चर्यमिश्रित खुशी की वजह से सलोनी की आँखों से आंसू टपक पड़े। वक्त द्वारा किए गए उस प्रहार, जिसके दर्द को वह.. अपने जीवन में अपनी चाहत और मंजिल को पा लेने एवं सतरंगी सपनों में खोने के बाद भी जाने–अनजाने जी रही

थी। वह जी रही थी उस दर्द को, जो उसके जैविक पिता ने उसकी माँ को दिया था। वह जी रही थी उन परेशानियों को, जो उसकी परवरिश में उसकी माँ ने जीया था।

रश्मिप्रिया ने माइक थाम कर बोलना शुरू कर दिया था, ''जब भी कभी आसमां को देखा करती थी, दिल की तमन्नाएं हिंकोरे लेते हुए मेरे वजूद पर अपना वर्चस्व जमा लेती थी और मैं सोचती थी.. क्या कभी आसमां के कुछ हिस्सों पर मेरा हक हो पाएगा.. अंबर तो कभी अपनी वसुंधरा से मिल नहीं पाता तो क्या अंबर की वसुंधरा की इस बेटी को उसके सपनों एवं अरमानों के आसमां से ख्वाहिशों के कुछ कतरे मिल पाएंगे..??

इस चाहत के साथ उम्र का एक बड़ा हिस्सा काट लिया मैंने, अपने जीवन के एकमात्र लक्ष्य.. अपनी बेटी की अच्छी परवरिश करने की उम्मीद में, जो आज आगे की पंक्ति में मेरे सामने बैठी है।

जिंदगी के इन सब जिम्मेदारियों से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब अपने उन सपनों को फिर से पंख देकर उड़ने का हौसला दिया जाए, जो सालों से दिल के किसी कोने में दबी–कुचली सी पड़ी थी।

उम्र के इस पड़ाव पर मेरे उन सपनों को पंख मिले हैं। अब मैं अपनी ख़्वाहिशों को उड़ान देना चाहती हूँ.. कितना सफल हो पाऊँगी, यह तो वक्त बताएगा पर अब मैंने अपने आप से प्यार करना सीख लिया है। अब बस यही चाहत है कि मैं अपनी तरफ से पूरी मेहनत करते हुए लेखनी को समय देती रहूँ। धन्यवाद..!!''

मंच पर उपस्थित सभी लोगों ने रश्मिप्रिया की पहली किताब की अच्छी तारीफ की, साथ ही यह भी सलाह दी कि ''लिखना बंद मत कीजिएगा.. आपकी हुनर ही आपकी पहचान बनेगी।''

सलोनी के आश्चर्य का वजूद अब तक मिट चुका था और उसकी जगह माँ के इस उपलब्धि के लिए गर्व ने ले लिया था।

समारोह की समाप्ति के बाद सलोनी रश्मिप्रिया के साथ घर आई। फ्रेश होने के बाद मेड हेमल ताई खाना लगाकर अपने घर चली गई, अब का वक्त पूरी रात के लिए बस माँ–बेटी का था।

पूरे दिन अपनी जिज्ञासा रूपी बवंडर को संभाले सलोनी, अचानक रश्मिप्रिया के गले से झूलती हुई एक छोटी बच्ची की तरह मचल उठी.. ''माँ, बताओ ना.. कैसे हुआ यह सब, तुम तो पूरे दिन बच्चों के ट्यूशन में बिज़ी रहती हो ना.. फिर ये सब कब लिखा तुमने.. मेरी माँ शिल्पा नायक से रश्मिप्रिया कैसे..??''

''अरे बाबा, तुम चुप रहोगी तो बताऊंगी न मैं''.. रश्मिप्रिया ने सलोनी के गालों पर एक मीठी सी चपत लगाते हुए बोला।

दोनों माँ–बेटी पलंग पर लेट कर वर्तमान को जीते हुए, भूतकाल में गोते लगाने लगीं.. अतीत की सीढ़ियों से हिचकोले खाते हुए धीरे–धीरे उतरने लगे थे।

हाई स्कूल के प्रधानाचार्य रमेश नायक जी की इकलौती बेटी शिल्पा बचपन से ही बला की खूबसूरत और बेहद मासूम थी। उसके जन्म के करीब दो साल बाद छोटे भाई दीपक कुल में कुलदीपक बनकर आया तो शिल्पा का मान घर में और ज्यादा बढ़ गया।

वक्त बीतते देर कहाँ लगती है। बीस साल की उम्र में स्नातक की पढ़ाई पूरी करने तक शिल्पा की खूबसूरती और भी निखर चुकी थी।

मामी की दखलदांजी से उनके इकलौते भतीजे देव से शिल्पा की शादी तय हो गई। अच्छे खासे बिजनेस वाले परिवार से ताल्लुक रखता देव रूप–रंग में किसी राजकुमार से कम नहीं समझा जाता था।

दहेज की कोई डिमांड नहीं थी, उन्हें बस पढ़ी–लिखी खूबसूरत कन्या चाहिए थी। शिल्पा की माँ अपनी बेटी के नसीब पर इतरा रही थी और कुछ नाते–रिश्तेदार अपनी बेटी के लिए ऐसे ही घर–परिवार की ख्वाहिश संग जले–भुने जा रहे थे।

शादी संपन्न हुई, पहली रात को ही देव ने शिल्पा की पसंद जाननी चाही..

''मुझे किताबें पढ़ना बहुत पसंद है।''

यह जवाब सुनते ही देव भन्ना उठा, ''देखो, जितना पढ़ना था, तुम पढ़ चुकी.. अब इस घर की बहू हो.. यहाँ नौकर–चाकर की कोई कमी नहीं है। तुम्हें कोई परेशानी नहीं होगी, बस अब तुम्हें अपनी मिडिल क्लास मेंटैलिटी को

छोड़कर एक बिजनेसमैन फैमिली के तौर–तरीके सीखने होंगे.. जितनी जल्दी सीख लो, तुम्हारे लिए अच्छा होगा।''

शिल्पा के सपनों और अरमानों पर मानों वज्रपात हुआ था। अंतस की ख्वाहिशें पिघलते हुए दम तोड़ती सी महसूस हो रही थी.. हद तो तब हो गई, जब बिना उसकी मर्ज़ी जाने देव अपने पति होने का हक जताते हुए एक मालिक की तरह शिल्पा की भावनाओं को साधिकार लूट लिया था। सपनों के बलात्कार से फैली किरचें उसके हृदय को लहूलुहान कर चुकी थीं।

देव तो मुँह घुमा कर सो चुका था पर शिल्पा कांटे सी चुभती उस सुहाग सेज पर हर बदलती करवटों के साथ अपने मटियामेट हो रहे वजूद की चुभन से कराह रही थी।

गुजरना समय की नियति है, यह वक्त भी गुज़र रहा था। शिल्पा जान चुकी थी कि देव को पत्नी का आधुनिक रूप पसंद है, उसे खूबसूरत पत्नी में ग्लैमरस अदा भी चाहिए। अब शिल्पा यह सब कहाँ से लाए, देव के ताने उसे अपनी मिडिल क्लास मेंटैलिटी का एहसास दिलाते रहते।

एक बार मायके से वह ''गुनाहों का देवता'' लेकर आई थी। दोपहर के खाने के बाद अपने कमरे में बैठकर उसे पढ़ रही थी। सास–ससुर किसी रिश्तेदार के पास शहर से बाहर गए थे।

उस दोपहर अचानक बिना बताए देव घर आया, शिल्पा के हाथों में किताब देखकर जलती निगाहों से उसे घूरा परंतु बोला कुछ नहीं..!!

चुपचाप कमरे से बाहर निकला और कुछ मिनट बाद मेन डोर लॉक कर दोबारा कमरे में आया और किताब के चिथड़े उड़ाते हुए बोला, ''कहा था न तुमसे, जितना पढ़ना था पढ़ चुकी.. गुनाहों का देवता पढ़ रही थी न.. चलो, आज मैं तुम्हें गुनाह का प्रैक्टिकल करके दिखाता हूँ।''

शिल्पा कुछ बोलने जा ही रही थी कि देव गरजा, चुप.. एकदम चुप.. कहते हुए उस को बेड पर धक्का दे दिया। आवेगित मनःस्थिति में इंसान शैतान से भी ज्यादा भयावह हो जाता है, सोचने समझने की शक्ति पूरी तरह नष्ट हो जाती है।

शिल्पा चीखती रही, चिल्लाती रही.. देव पर उसका कोई असर नहीं हुआ.. वह राक्षस बनकर शिल्पा के वजूद संग बलात्कार करता रहा।

शिल्पा का सर्वांग देव के प्रति घृणा से भर चुका था। ऐसा मूढ़ मति का नीच पति, जो एक पवित्र किताब के भाव का भी बलात्कार करते हुए अपनी नीचता की पराकाष्ठा पार चुका था।

कई बार हमेशा के लिए माँ के घर जाने का ख्याल आया पर सामाजिक बदनामी का सोचकर कदम हिम्मत नहीं जुटा पाते..! क्या पापा लोगों के इस सवाल का जवाब दे पाएंगे कि शादीशुदा बेटी अपनी ससुराल छोड़कर मायके क्यों आ गई..??

इस तरह के प्रश्नों के झंझावात में घिरकर शिल्पा हौसला जुटा पाने से पहले ही हार जाती।

शिल्पा ने देव की पसंद के अनुसार खुद को बदलकर परिस्थिति से समझौता करने की कोशिश की। उसने किटी पार्टी जॉइन की, कुछ दिन तो सब ठीक–ठाक चला पर धीरे–धीरे सौंदर्य प्रसाधनों से लिपि–पुती महिलाओं की नकली मुस्कुराहटों और एक–दूसरे की तरफ शब्दों के जाल में लपेटकर फेंकते व्यंग्यवाण शिल्पा के अंदर ऊब पैदा करने लगे।

देव को प्रसन्न करने की सोच कर अब उसके साथ पार्टियों में भी जाने लगी थी। वह दिन की सोच के अनुसार अपने उस मिडिल क्लास मानसिकता को त्याग कर बड़े लोगों के बीच उठना–बैठना सीखने की कोशिश करना चाहती थी। अपने वजूद को तो वह कब का मार चुकी थी, अब अपनी गृहस्थी की हक़ीकत बताकर माता–पिता को जीते जी नहीं मारना चाहती थी।

इसी प्रयास में वह उस दिन देव के साथ एक पार्टी में गई थी मिस्टर सेनगुप्ता ने उससे हाथ मिलाने के लिए हाथ आगे बढ़ाया और डांस की इच्छा जताई। शिल्पा ने नमस्ते किया एवं शालीनता से डांस के लिए मना कर दिया।

देव से बर्दाश्त नहीं हुआ, वह अपना आपा खो बैठा एवं शिल्पा को सबके सामने तमाचा जड़ दिया। शिल्पा के लिए अप्रत्याशित था।

वह कांपते हुए चिल्लाई, ''मिस्टर देव मल्होत्रा, बहुत

हो चुका.. अब और नहीं. तुम और तुम्हारी यह महफिल तुम्हें मुबारक.. तुम जीते रहो अपनी इस दोगली ज़िंदगी में..!!'' यह कहते हुए वहाँ से निकल गई शिल्पा, देव की ज़िंदगी में यह उसका आख़िरी क्षण था।

उसी रात बस पकड़कर वह मायके आ गई, माता पिता को सारी कहानी बता कर हौसला दिया।

रमेश बाबू बोले, तुमने इतना कुछ सहा और हमें कुछ भान तक नहीं होने दिया.. तुम्हें यह कदम बहुत पहले उठाना चाहिए था, बेटी !''

कुछ ही दिन में पता चला कि वह माँ बनने वाली है। अपने आप को संभालते हुए उसने सलोनी को जन्म दिया, माँ ने सलोनी की पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली थी।

कुछ समय बाद शिल्पा बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने लगी। उसने अपने आपको अब तक अच्छी तरह संभाल लिया था, वह एक बार फिर शिल्पा मल्होत्रा से शिल्पा नायक बन चुकी थी। भाई दीपक की भी नौकरी मिलने के बाद शादी हो गई और वह अपनी पत्नी को साथ लेकर बेंगलुरु चला गया।

शिल्पा ने भी सलोनी का सोचते हुए शहर में रहने का निर्णय लिया। वहां उसकी ट्यूशन भी अच्छी चलती। पिता भी रिटायर्ड हो चुके थे, उसने उन्हें भी साथ रहने को तैयार कर लिया।

समय पंख लगाकर निर्बाध गति से गुज़रता रहा, सलोनी को बैंक में नौकरी मिल गई थी.. वह अपने साथ काम कर रहे रौनक से शादी करके खुशहाल ज़िंदगी जी रही थी।

अपनी ज़िम्मेदारियों से निबटकर शिल्पा अब खुद के लिए जीना चाहती थी और जीवन के इस मध्यांतर के बाद यह उसी दिशा में उसकी पहली कोशिश थी.. अभी उसे लंबा सफर तय करना था।

बेटी माँ की उपलब्धियों पर गौरवान्वित थी। अगले दिन प्रकाशक का फोन आया, ''एक संस्था के सौजन्य से अगले रविवार को एक सम्मान समारोह है.. जिसमें आपको सम्मानित किया जाने वाला है। मुख्य अतिथि इंदौर के एक बिजनेसमैन देव मल्होत्रा होंगे।''

''आपने मुझसे बिना पूछे हाँ कैसे बोल दिया.. मुझसे पूछा तो होता !''

''यह तो खुशी की बात है, इसलिए मुझे पूछना ज़रूरी नहीं लगा.. क्या इंकार की वजह मैं जान सकता हूँ'', प्रकाशक ने कहा..!

''मुझे सोचने के लिए थोड़ा वक्त चाहिए, कल बात करती हूँ आपसे'' !

सलोनी के पूछने पर शिल्पा ने बता दिया कि वही देव मल्होत्रा उसके पिता हैं।

''माँ, एक ऐसा शख़्स.. जिसे आज तक दोबारा आपका ख़याल नहीं आया, जिसने आज तक यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि मैं उसकी बेटी कैसी हूँ। मुझे लगता है आपको एक बार उस इंसान के सामने ज़रूर जाना चाहिए'' , कहते हुए सलोनी के चेहरे पर चमक आ गई और शिल्पा ने भी मुस्कुराते हुए उसके गाल थपथपा दी।

प्रोग्राम शुरू हो चुका था। सम्मान के लिए जैसे ही रश्मिप्रिया का नाम पुकारा गया, वह मंच पर गई.. देव मल्होत्रा के चेहरे के भाव क्षण भर को बदले परंतु वे अपने को संभालकर रश्मिप्रिया की तरफ बढ़े एवं पुरस्कार देने हेतु हाथ आगे बढ़ाया।

अचानक रश्मिप्रिया ने पुरस्कार की जगह उनकी हाथ से माइक ले लिया एवं उन्हें बैठने का इशारा किया, ''यहाँ उपस्थित सभी लोगों से मैं यह कहना चाहती हूं कि मैं किसी ऐसे इंसान के हाथों पुरस्कार ग्रहण नहीं करना चाहती, जो पैसे कमाने की अंधी दौड़ में किताबों से नफ़रत करता हो.. जिसने अपनी पत्नी को ''गुनाहों का देवता'' पढ़ते देखकर, गुस्से में आकर उसके साथ बलात्कार करने का गुनाह किया हो। ऐसे इंसान के हाथों यह सम्मान लेकर मैं इस सम्मान की गरिमा घटाना नहीं चाहती'', कहते हुए उसने माइक देव मल्होत्रा के हाथों में थमा दिया एवं अपनी बेटी का हाथ थामें हॉल से निकल गई ।

अपने जख़्मी वजूद पर आज वह सही मायने में मरहम लगा महसूस कर रही है। आसमां के कुछ हिस्से और ख्वाहिशों के कुछ कतरें उसकी मुट्ठी में बंद होकर उसके साथ उसका वजूद तराशने निकल चुके हैं। ◆

पता : रॉयल ट्विंस पार्ट वन, फ्लैट नंबर 601, दमन रोड, चलावापी, गुजरात–396191

मो. : 9726200703

रेनू सैनी की एक कविता

रेनू सैनी

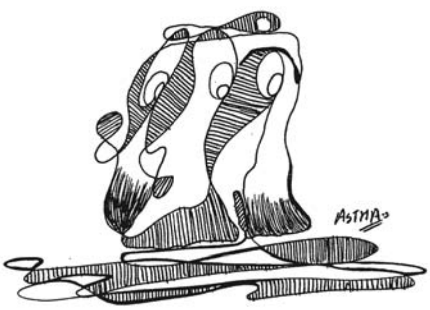

पराजित का हृदय
वेदना भरा हृदय
विकल अधीर हो रहा है
यह जीवन अब
ग़मगीन हो गया है
चिंतित मन
प्रतिबल आंखों को
अश्कों से भिगो रहा है
पराजय जीवन में
दे गया अंधेरा
इससे जीवन में
छा गया शोक गहरा
भयभीत, वीभत्स
नज़र आ रहा हर चेहरा
अग्रपथ हो गया दुर्गम
कैसे बने जीवन का
हर मार्ग अब सुगम
हृदय के कोने में
छिपा आत्मविश्वास का कतरा
जीर्ण–शीर्ण मन को
सहला कर बोला
मत घबरा ऐ मानव
उत्साह का संचार
आत्मविश्वास का घायल प्रहार
विजय की प्रबल इच्छा
साहस की अनुभूति
बनेंगी लक्ष्य की तीव्र धार
कभी मिली पराजय तो
अंत नहीं इस जीवन का
आत्मविश्वास ही तुम्हें
शीघ्र दिलाएगा
विजय की गरिमा।

◆

पता : 3, डीडीए फ्लैटस, खिड़की गाँव, मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017
मो. : 9971125858

जोखूराम की एक कविता

समय

समय हो गया, चला जा रहा हूं
समय का पहरूआ बड़ा ही सजग है।
किसी को भी रूकने न देगा यहां पर
सभी हैं मुसाफिर उमर की डगर में
किसी को न मिलती है मंजिल यहां पर
लिए जा रहा हूं ये आंसू नयन में
सुनहरे सपन मैं दिये जा रहा हूं
न सोचो कि पूरी न हो पायी बातें
यहां बात पूरी न होगी किसी की
भले ज़िन्दगी भर रहूं देखता मैं
मगर प्यास पूरी न होगी किसी की
लिए जा रहा हूं प्रबल प्यास अपनी
तुम्हें रस कलश मैं दिए जा रहा हूं
इतना ही कल क्या कि हम साथ में थे।
यहां साथ मिलता न मागें किसी से
सभी को है जाना, सभी जायेंगे पर।
कोई भी यहां हाथ मिलता न मांगे
लिये जा रहा हूं खिजा साथ अपने
महकता चमन मैं दिये जा रहा हूं

◆

प्रस्तुति – डा. मधु तांबे
पता : 314 कुमार इंक्लेव, वज़ीर हसन रोड,
हजरतगंज, लखनऊ–226001
मो. : 9450282802

रविन्द्र सिंह पंवार की एक कविता

रविन्द्र सिंह पंवार

एकता गीत

आओ मिलकर एक रहें हम।
भेद–भाव के बंधन तोड़ें, प्रेम भाव से नेक रहें हम।।
आओ मिलकर एक रहें हम।

दानव–दल छल बल प्रपंच से, जाति–भेद फैलाते हैं।
भ्रमित भिन्नता के दल–दल में खींच–खींच के लाते हैं।।
राष्ट्रप्रेम के एक सूत्र में दृढ़ता से पग टेक रहे हम।।
आओ मिलकर एक रहें हम।

स्वस्थ देह की भुजा काटकर, देह सुखी कैसे होगी?
अंग–अंग की अक्षमता से सफल देह कैसे होगी?
जुड़ा रहे सद्भाव हमेशा, प्रेम नित्य अतिरेक करें हम।।
आओ मिलकर एक रहें हम।

वे यह अवसर खोज रहे हैं, किसी तरह हम बँट जाएं।
धर्म ध्वजा को छोड़ भ्रमित हो, सत्य मार्ग से हट जाएं।
चीर द्वेष के जल प्रवाह को, आनन्द का अभिषेक करें हम।।
आओ मिलकर एक रहें हम।

मनका मनका जुड़ जाए तो सुन्दर माला बनती है।
मन का मनका टूट गया तो जीवन धारा खलती है।।
अडिग रहे विश्वास परस्पर ऐसा दृढ संकल्प करें हम।।
आओ मिलकर एक रहें हम।

◆

पता : गाँव–अढ़ापुरा (एटा), सम्प्रति–डी, 216,
संगम विहार, नई दिल्ली–80
मो. : 9810318136

नमिता सचान की चार कविताएँ

नमिता सचान

1. कचनार

कचनार की अधमुंदी आँखों में
कौन गया है रोप
सपन गुलाबी बैंगनी
ढेर के ढेर,
तपती दोपहर को
कर संदली
कैसे बेलौस मुस्कुराता है
ये कचनार रेशमी,
छांव तले इसकी
लगता है बसने
गाँव स्मृतियों का,
झिलमिलाने लगता है
चौड़ा पाट गंगा का
और आख़िरी सीढ़ी पर बैठे
पानी में पैर डाले हम
भीतर तक उतरती ठंडक
उस पार की रूपहली सिकता पर
दूर तलक एक साथ जाते
दो जोड़ी कदम,
अजनबी शहर के प्लेटफार्म पर
आधी रात को
ट्रेन की प्रतीक्षा में
वी.ई.पी. सूटकेस पर बैठ
खोलते वह कागज़
जो रेंगती ट्रेन के संग भागते हुए
कर दिया था बंद
तुमने मेरी मुट्ठी में,
देखा था मैंने मुस्कुरा कर
प्लेटफार्म के आख़िरी सिरे से
झांकते तारे को
इस विश्वास से कि
इस समय
तुम्हारी नज़र भी
दूर के उस शहर से
होगी टिकी इसी तारे पर
और झपका कर पलक अपनी
तारे ने पुख़्ता किया था मेरा
विश्वास।
कितने रास्ते
कितने पड़ाव
कितनी यात्राएं
और आज फिर हैं हम
इन कचनारों संग
जो रहे हैं गुनगुना
न जाने कितने प्रेम किस्से,
कैसी भी हो डगर
कचनार भरी एक दोपहर
कम से कम एक तो ज़रूर
आती ही है सबके हिस्से
हाँ सबके हिस्से।

2. गुलमोहर

जेठ की भद्दर दोपहरी में
देख खिलखिलाता गुलमोहर
मुझे आ जाती हो तुम
बेतरह याद
और मेरे तपते मन में
होने लगती है रूरझुन सावनी फुहारों की

अच्छा फिर

फिर क्या
कातिक के उत्सवी रंग में डूब
महमहाने लगते हैं मेरे मन प्राण
भूल जाता हूं मैं
हाड़ गलाती पूस की रातें
जो काटी थीं
लड़ते हुए अपने आप से
पाले लगी फसल सा ही
होता मेरा हाल
गर
अल्हड़ फागुनी बयार सी तुम
तोड़ सारी सांकले
आ न बैठी होती तुम मेरे पास।

अब कुछ नहीं बोली वह
बस
उसकी आँखों में उतर आया
नीला निर्मल मानसरोवर
और
मेरी हथेलियों में था
चटक लाल गुलमोहर
मेरा अपना वाला गुलमोहर।

3. रातरानी

गहराती सांझ संग
लगती है महमहाने
छज्जे पर की
रातरानी,
हवा के हल्के से झोंके से
लरज–लरज जाती है
उसकी तन्वंगी काया
और दूर तलक जाती हैं खींच
लकीरें खुशबू की,
दिन भर के दग्ध मन पर
ज्यों छीटें चाँदनी के,
नसों में लगता है बहने
शीतल दरिया सुगंध का,
सपनीला अंधियारा
मीठी चुप
अनाम सुख में आकंठ डूबे हम
अपना आप
ज्यों बादल का टुकड़ा
धरती से
दूर उन नक्षत्रों तक
रच जाती है
खुशबू की आकाशगंगा
डूबते उतराते
इस अलौकिक संसार में

हम हो उठते हैं अशरीरी
खुद ही हो जाते हैं
गंध रात रानी की
कितने तो संबंल थमाए हैं
ईश्वर ने
पर हम
न छोड़ पाते हैं कातर होना
न शिकायतों की पोटली खोलना
चलों खींचे ज़ोर की एक सांस
और भूल कर खुद को
कर लें रातरानी आत्मसात
आओ न सब आओ...

4. पलाश संग

चटकते पलाश के इस मौसम में
मेरे मन में आते हैं उग पंख
हरे, नीले, चमकीले रंगों वाले
खूबसूरत पंख।
और फिर
फागुनी हवाओं में
पर तौलता मेरा मन
उड़ जाता है
दूर....
हरे जंगलों वाली
उन घाटियों में
जहां
संगीत रचता है सन्नाटा।
पंजों के बल हो खड़े
उचक– उचक
करते हैं चुहल
मुलायम रेशमी पत्ते
हवाओं से।
ललचाता है आसमान को
किसी घुमावदार चढ़ाई के
आख़िरी सिरे पर खड़ा
वो ऊँचा, चटक फूलों से लदा पेड़।
घने पत्तों से
छन आती
सुनहरी किरणों की रूनझुन
आश्वस्ति का घोलती है संगीत
पोर– पोर।

वहाँ पहुंच
मेरा मन
धीरे धीरे खोल
रख देता है अलग
अपने पंख,
झुरमुट में पड़ी शिला पर
लेट अलस
बूंद बूंद करता है जज़्ब
वो अबोली चुप,
बिखरे पंख,
ताज़ी छुअन,
नैसर्गिक सरगम।

◆

पता : 5/138, विकास नगर, लखनऊ– 226022
मो. : 7985281674

महेश केशरी की एक कविता

महेश केशरी

इतनी फ़िक्र अब कौन करता है !

अब लोग इतना ही पूछते हैं
जब भी मिलते हैं कैसे हो...
और मेरे मुँह से सिर्फ इतना
ही जैसे सुनना चाहते हो...
ठीक...
जैसे उनके पास बस इतना
ही पूछने का समय हो...
फिर वो मुस्कुरा कर आगे
बढ़ जातें हैं...!

इधर बहुत बाद के सालों
में तो और बुरा हुआ है...
शहर में लोग सुध नहीं लेते
एक दूसरे की !

बहुत समय हुआ लोग
हाल नहीं पूछते...
सब जैसे अपने आप में मगन हैं
जब मौसम का ज़िक्र आता तो
लोग यही कहते...

इस साल बहुत गर्मी पड़ी
या इस बार बहुत ठंड पड़ी...
लोगों ने ये भी पूछा कि
तुमने देखी थी कभी ऐसी बारिश...

लेकिन...
बहुत पहले के गये बीते दिनों में से ही
बहुत सारे दिन ऐसे थे
जब आँगन बुहारती माँ ने
अक्सर नियम से टोका ये कहकर
कि नहीं अभी बहुत धूप है...
मत जाओ...
लू लग जायेगी...बीमार पड़ जाओगे...!

कोठे से कपड़े उतारती, माँ आँखें दिखाते
हुए ये कहती बाहर बारिश में क्यों भींगने जा रहे हो
बुखार हो जायेगा...!
चलो भीतर चलो...
घर से बाहर बारिश ख़त्म होने पर ही जाना...

अचानक एक दिन घुलते
हुए दिनों में माँ कहीं बिला गई...

अब बहुत धूप वाले गर्मियों के
दिनों में जब बाहर निकलता तो
रोकने–टोकने वाला कोई नहीं था...
लेकिन इस आजादी पर दिल में कोई
खुशी नहीं होती थी...!
घर की दहलीज़ से पैर निकालते समय
मैं उस आवाज़ को सुनना चाहता था !
कि रुको बाहर अभी बहुत धूप है, मत
जाओ...
क्या इतना ज़रूरी काम है...

कल चले जाना...
रूको दो मिनट तुम्हें बहुत जल्दी
रहती है...
मैं, छाता लेकर आती हूँ...!

वापस, लौटता तो माँ हाथों में
गुड़ का शरबत लिये खड़ी रहती...

अब उसी तरह तपती हुई दोपहर
में जब घर से निकलता हूँ
तो सोचता हूँ कि कोई पीछे से
आवाज़ दे
और रोक ले मुझे ये कहकर कि नहीं
अभी बहुत धूप है...
बाहर मत जाओ...
रूको कि तुम्हें बहुत जल्दी
रहती है...
साथ में छाता लेकर जाओ...

पसीने से लथपथ काम को निपटाकर
जब मैं चिलचिलाती हुई धूप से
होकर लौटता हूँ

तो ओसारा बिल्कुल
खाली दिखाई देता है...
मैं गुड़ वाले शरबत
लिये हाथों के बारे में सोचता हूँ...
लेकिन, अब वहाँ कोई नहीं है...!
जैसे ही इस बात को सोचता हूँ...
दिमाग फटने लगता है...
इस कविता को लिखते हुए हाथ
काँपने लगे हैं...!

बाद के दिनों में जब पिता घर की जर्जर
छत की तरह हो चले थे...

सर्दियों के दिनों में
जब मैं सुबह सुबह काम
पर निकलता तो पिता तकीद करते...
बाहर बहुत ठंड है...
तुम रात को शायद देर से लौटते हो...

या कि, तुम्हारी सेहत बहुत गिरती जा रही
है...
सब कुछ धरा का धरा रह जायेगा...
तुम खाने–पीने में बहुत लापरवाह हो...
अपनी सेहत पर बहुत ध्यान नहीं देते...
थोड़ा दूध रात को लिया करो...
च्यवनप्राश और दूध एक साथ लेने से
सर्दियों में सेहत ठीक रहती है...
मेरे बाद तुम्हें और तुम्हारे बाल बच्चों
को अब तुम्हें ही देखना है...
तुम समझ रहे हो ना मैं
जो कह रहा हूँ...

पिता शायद साफ–साफ अलविदा नहीं
कहना चाहते थे...
अंतिम दिनों में पिता इसी तरह घूमा–फिरा कर
बातें करते थे
जैसे एक कुशल नाविक सौंप रहा हो
कोई कमान...अपने अधीनस्थ को...!

अब कोई हाल चाल नहीं लेता...
कोई नहीं रोकता–टोकता
कोई नहीं डाँटता
डपटता...

◆

पता : –मेघदूत मार्केट फुसरो,
बोकारो झारखंड–829144

विजय सिंह की कविता

विजय सिंह

दहेज महिमा

प्रगति के इस युग में
इंसाँ भी सामान हुआ है
आसमाँ से ऊँचा देखो
दूल्हे का दाम हुआ है
कोई चढ़ा करोड़ों पर
कोई लाखों में उतरा है
चाहता हर कोई चूसना
अपनों का हर कतरा है
गरीबों की पगड़ी अब
उछलना तो आम हुआ है आसमाँ से ऊँचा देखो दूल्हे का दाम हुआ है
जो हैं ही नहीं इंसाँ यारों
इंसाँ से नाता क्या जोड़ेंगे
मसलेंगे चुटकी में और
आहुति अग्नि में छोड़ेंगे
वधुओं की होली जलना
रोज़मर्रा का काम हुआ है आसमाँ से ऊँचा देखो दूल्हे का दाम हुआ है
खोखली होंगी जड़ें और
बढ़ेंगी समाज में खाइयाँ
नारी बचेगी न धरा पे
होंगी यादों की परछाइयाँ
धन से औलाद बनाने में
विज्ञान भी नाकाम हुआ है आसमाँ से ऊँचा देखो दूल्हे का दाम हुआ है

◆

पता : राजा टोडरमल सर्वेक्षण एवं भूलेख प्रशिक्षण संस्थान, उ.प्र., हरदोई
मो. : 9793247142

कल्पना के वैभव को नकारती ग़ज़लें

❑ धन सिंह मेहता 'अनजान'

मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण ग़ज़ल–संग्रह की पहली ग़ज़ल 'माँ वीणापाणि' से राह सुगम बनाने की प्रार्थना करते हुए डॉ. अखिल जी पूछते हैं कि–

कौन मार्ग सत्य है जाऊँ भी तो अब किधर,
घूमता मैं, फिर रहा पथ सुगम माँ कीजिए,

संग्रह की अन्तिम ग़ज़ल 'पैगाम' तक पहुँच कर वे प्रश्न खड़ा करते हैं कि–

'धर्म के जो नाम पर सब को लड़ाते हैं 'अखिल'
पूछिए जाकर उन्हीं से धर्म का क्या काम हैं?'

संत कबीर और अमीर ख़ुसरो से लेकर डॉ0 अखिलेश निगम 'अखिल' जी तक हिन्दी में ग़ज़ल लिखने की परम्परा निरन्तर पनपती चली आ रही है; हिन्दी के नाम पर आज थोक के भाव ग़ज़लें लिखीं जा रहीं हैं; हिन्दी भाषा को ग़ज़ल के साथ जोड़कर जो भी अच्छा लिख रहे हैं; डॉ. अखिलेश निगम 'अखिल' जी निस्संदेह उनमें से एक हैं। एक सौ एक ग़ज़लों के संग्रह में 'अखिल' जी अपने आप से, समाज से, देश को संचालित करने वाली व्यवस्था से लगभग अस्सी प्रश्न पूछते हैं और उम्मीद करते हैं कि हर स्तर से उनका उत्तर उन्हें समय से मिलेगा।

ग़जल–संग्रह में संग्रहित ग़ज़लों में उर्दू कम; हिन्दी का प्रयोग अधिक हुआ है, इस कारण इन ग़ज़लों को हिन्दी की ग़ज़ल कहना सर्वथा उचित होगा ''उर्दू वालों ने तो ग़ज़ल का गला घोंट दिया है, अब ग़ज़ल को हिन्दी वाले ज़िन्दा रखेंगे।'' पाकिस्तान के मशहूर साम्यवादी शायर फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' के इस कथन का यह प्रकाशित ग़ज़ल–संग्रह पूर्ण समर्थन करता हुआ दिखाई देता है। दुष्यंत की गज़लों की तरह अखिल जी की ग़ज़लें भी खोखली होती जा रही व्यवस्था के प्रति विद्रोही ताप व तेवर के साथ; यथार्थ को समेटे, सामाजिक सरोकारों तथा नैतिक मूल्यों के पक्ष में खड़ी होकर प्रश्न पूछती हैं कि–

'प्यार के झरने में तुमने स्वार्थ का कीचड़ भरा,
हर किसी को तुम डूबोना चाहते हो किसलिए?'

'ग़ज़लें अखिल की' उस समय प्रकाशित होकर पाठकों तक पहुँची हैं; जब पूरा मानव समाज, वैश्विक महामारी (कोरोना वायरस) से उबरने की कोशिश कर रहा था; देश का तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग मानवीय विषयों से हटकर राग दरबारी लिखने व गाने में मस्त–व्यस्त था। ऐसे समय में 'अखिल' जी ने ग़ज़लों में यथार्थ चित्रण के साथ–साथ काव्यात्मकता का पूरा

ध्यान रखते हुए बड़ी सतर्कता से बेख़ौफ़ अन्दाज़ में उन तथाकथित बुद्धिजीवी व विलगाववादी तत्वों को आइना दिखाया है जो निजी स्वार्थवश अकारण भय का वातावरण तैयार करने और राजदरबार को खुश करने में संलग्न था। 'उठो जागो आगे बढ़ो' ग़ज़ल में अखिल जी लिखते हैं–

अधेरे से रोशनी की जंग जारी है'
उठो आगे बढ़ो अब बारी तुम्हारी है।'

प्रतीकों व बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने के कारण ग़ज़लें जीवन्त हो उठती हैं, जीवन्त ग़ज़लों को लेकर अखिल जी स्वयं आगे बढ़ते हुए 'परिवर्तन की पुकार' में कहते हैं कि–

''बँट चुके हैं, बिक चुके हैं, हम मज़हबों के नाम पर,
आपसी सौहार्द का अद्भुत तराना चाहिए।''

ग़ज़लों में प्रयुक्त भाषा सरल, सर्वग्राह्य तथा प्रवाहपूर्ण होने के कारण गम्भीर मानवीय समस्याओं को सामने रखने और समस्या से प्रभावितों को अपनी भावनाओं से अवगत कराने में अखिल जी सफल हैं; 'लड़कियाँ' शीर्षक से लिखी अर्थपूर्ण, भावभरी ग़जल में वे लिखते हैं–

''भ्रूण हत्या का सिलसिला भी चल पड़ा इस दौर में।
गर्भ में ही ज़िन्दगी अब माँगती हैं लड़कियाँ।''

अखिल जी के प्रकाशित इस ग़ज़ल–संग्रह को पढ़ने के बाद ही समझा जा सकता है कि उनमें ग़ज़ल लिखने की जरूरी व गहरी समझ गज़ब की है। मानव समाज की चिन्ताओं, प्रकृति के निर्मम दोहन से बिगड़ते पर्यावरण का जन जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को अनेक ग़ज़लों में विश्लेषित करने का अखिल जी का अद्भुत कौशल श्लाघनीय है।

सामाजिक सरोकारों व चरित्रों के ताने–बाने से बुनी गई ये ग़ज़लें आपसी रिश्तों तथा इन्सानियत को समय से खोजकर पहचानने का सशक्त माध्यम बनी हैं। आज समाज में जितने कोण बने हैं; उतने कोणों से प्रश्न उठ रहे हैं; जो मानव को बेचैन कर रहे हैं। अखिल जी ने ग़ज़लों में गुणवत्ता व ग़ज़ल लिखने के तयशुदा मानदण्ड को ध्यान में रखते हुए अपमान, बेबसी, आम आदमी का संघर्ष, इन्सान की टूटन, जीत की खुशी, हार का गम, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, संघर्ष, संत्रास आदि विषयों को ग़ज़लों में रागमय संवेदनाओं के साथ सही स्थान देकर अत्यन्त दुरूह कार्य को सरल किया है। यही इस ग़ज़ल–संग्रह का वैशिष्ट्य है; जिसकी प्रशंसा खुले दिल–दिमाग से की जानी चाहिए।

भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण अखिल जी ग़ज़लों में कल्पना के वैभव को नकारते नज़र आते हैं और ग़ज़लों में बौद्धिक स्तर की अनावश्यक चीर–फाड़ से बचने के लिए अखिल जी ने अपने अगल–बगल के परिवेश को विषय बनाकर गहन संवेदनाओं के साथ समाज की बाह्य व आन्तरिक सच्चाइयों को सामने लाने का साहस किया है; जिसमें वे पूर्ण रूप से सफल भी हैं। वर्तमान में ऐसा प्रयास विरल साहित्यकारों में दिखाई देता है। 'आज का आदमी' शीर्षक से रची ग़ज़ल में वे कहते हैं–

हर तरफ़ गिरगिट दिखाई दे रहे,
काँच का टूटा कड़ा है आदमी।

समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों को पैनी दृष्टि से पकड़कर सच को रेखांकित करने का कौशल अखिल जी की गज़लों में दिखाई देता है। 'नशा नाश का मूल है' ग़ज़ल की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

''हो रहे धन्धे घिनौने सब नशे की ही आड़ में,
माफ़िया, अपराधियों का अब खुला ऐलान है।

दैनिक बोलचाल की भाषा में आम आदम के भोगे यथार्थ को ग़ज़लों में लिपिबद्ध करने के लिए जिस प्रकार का शब्द–सौष्ठव, शब्द चयन की आवश्यकता होती है, वह सब ग़ज़लों में सटीक ढंग से किया गया है। अतः पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शिल्प की दृष्टि से तथा भाषा की दृष्टि से अखिल जी की ग़ज़लें शोषित, सर्वहारा वर्ग के पक्ष में खड़ी होकर उनका प्रतिनिधित्व करती हैं। ग़ज़लों में पीड़ा है, कशिश है, ताने हैं और व्यंग्य है। यह सब हिन्दी ग़ज़ल की सम्भावनाओं और उनके सुन्दर भविष्य का प्रमाण है, 'अन्धेर नगरी' शीर्षक से रची ग़ज़ल में वे कहते हैं कि–

पागल हैं वे कुर्सी पाकर, समझें केवल खुद को ज्ञानी।
सिर्फ़ दिखावा ही करते हैं, बनते मगर बड़े ही दानी।।

एक सौ एक ग़ज़लों के संग्रह को प्रकाशित करने के लिए जिस प्रकार का शोध, सोच, संयम और संवेदनशीलता का परिचय 'अखिल' जी ने दिया है वह स्तुत्य योग्य है।

अन्त में डॉ. अखिलेश निगम 'अखिल' जी को 'ग़ज़लें अखिल की' प्रकाशित करने के लिए उनकी ही ग़ज़ल 'जीत होगी आपकी' की दो पंक्तियों से बधाई देता हूँ और हार्दिक शुभकामना करता हूँ कि–

''राह में काँटे कभी तो, फूल भी होंगे कभी।
आज पतझड़ है अगर तो ऋतु सुहानी आयेगी।
तुम अगर आगे बढ़ो तो पास मंज़िल आयेगी।।

◆

पता : 15/12, गीतापुरी, खड़गापुर, पोस्ट–मलेशियामऊ,
गोमतीनगर विस्तार, लखनऊ, उ.प्र.–226010
मो. : 9336488805

बच्चे जब कोई नाटक लिखते हैं, तो ....

❑ अनिल मिश्रा 'गुरु जी'

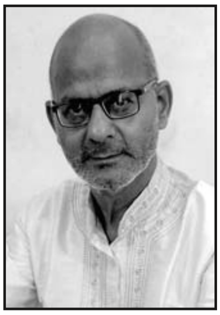

बच्चों की तर्कशीलता,विवेक और उनकी अपनी दुनियाँ अदभुत होती हैं। जब तक उनके दिमाग में ज्ञान का विस्तार नहीं होता तब तक वह भोले होते हैं। इस भोलेपन में उनके क्रियाकलाप बहुत सात्विक होते हैं।इस सात्विकता को हीं उनके बौद्धिक विकास का बुनियाद माना जाता हैं। पिछले एक दशक से लखनऊ के रंगकर्मी एवं फिल्म अभिनेता महेश चंद्र देवा शहर में रंगमंच की चबूतरा थियेटर पाठशाला चलाते हैं। इस पाठशाला से जहां सैकड़ों बच्चे युवा होकर रंगमंच एवं फिल्म की दुनियां में काम कर रहें हैं वही वैचारिक रूप से पढ़ने–लिखने के अलावा अपने भविष्य की कहानी भी गढ़ रहें हैं। पाठशाला की ख़ासियत हैं कि इसमें रंगमंच की दुनियाँ से परिचीत होंने वाले बच्चे अति आर्थिक, सामाजिक और समाज की मुख्यधारा से कटे हुएँ हैं। उन्हें समाज कि मुख्यधारा से जोड़ने और बेहतर बनाने का काम चबूतरा थियेटर पाठशाला कर रहा हैं। आज पाठशाला इस मुकाम पर हैं, कि वह बच्चों को आर्थिक रूप से भी मजबूत बना रही हैं।

रंगमंच के बारे में कहा जाता हैं कि वह व्यक्ति को मानव के रूप में स्थापित करती हैं। संस्कार, व्यवहार, सम्मान, सत्यता, सहजता और जीने की कला रंगभूमि से प्राप्त होती हैं। रंगविधा में कार्य करने वाले बच्चे हों या युवा उन्हें इस बात का अहसास बराबर बना रहता हैं कि हमें सामाजिक बदलाव की भूमिका में नाट्य कर्म के ज़रिये सामाजिकों के बीच दरवाज़ा खटखटाना है और उन्हें एक अच्छे माहौल के लिए तैयार करना हैं। बच्चों की दुनियाँ यूँ तो अपनी होती हैं, लेकिन अगर इस दुनियाँ में युवा पीढ़ी उन्हें परिष्कृत करने का काम करती हैं, तो उसके नतीजे बेहतर आते हैं। महेश बच्चों के बीच रंगमंच करते हुएँ उन्हें जमीन ही नहीं उपलब्ध करा रहें हैं बल्कि भविष्य के सोपान पर उनके बेहतर होने का मार्ग प्रशस्त कर रहें हैं। पाठशाला में बच्चों को रंग और साहित्य के विभिन्न आयामों से उनके अंदर उपस्थित परम संभावनाओं को सामाजिकों के बीच लाते हुए उनकी कौशल क्षमता का आकलन किया जा रहा हैं। नतीजनन बच्चे नाटक लिख रहे हैं, अभिनय कर रहे हैं, चित्रकारी कर रहे हैं, कहानी पाठ कर रहें हैं, बल्कि लघु फिल्मो पर भी हाथ आजमा रहे हैं।

इसी ज़मीन पर पाठशाला के दो बच्चे सोनाली बाल्मीकि एवं काजल गौतम ने चार लघु नाटक लिखकर संस्था के तहत मंचित ही नहीं किया बल्कि उसमें सहायक निर्देशकीय क्षमता का परिचय भी दिया। इन्हीं लघु नाटकों पर मंचित किताब 'बेवकूफ नौकरानी' अभी हालियाँ

उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की प्रकाशन अनुदान योजना के अंतर्गत प्रकाशित होकर प्रेक्षकों के बीच आई हैं। इसमें चार बाल नाटक यथा—बेवकूफ नौकरानी, आओ मिलकर आवाज़ उठाएं, झूठी उम्मीद और सोच मौजूद हैं। दो नाटक सोनाली बाल्मीकि और दों नाटक काजल गौतम के हैं। दोनों बच्चियों के अंदर नाटक लेखन को लेकर बेहतर संभावनाएं हैं। इन्होंने अपनी दुनियाँ से सामाजिक चश्में को देखने का काम किया है। जैसा की किताब का शीर्षक हैं 'बेवकूफ नौकरानी' उसके संवाद इस कदर चुटीले हैं कि वह हास्य—परिहास्य का मुज़ाहरा करते हैं। भ्रूण हत्या सामाजिक एवं कानूनन दोनों अपराध हैं। इसी पर आधारित नाटक 'आओ मिलकर आवाज़ उठाएं' भ्रूण की जांच कराने वाले लोगों के खिलाफ मुखर होता हैं। यह नाटक तमाम नाटकीय रसों से भरपूर हैं। आजकल के बच्चे आधुनिक दुनियाँ में समय से आगे निकलने की होड़ में हैं। इस होड़ में उनके माता—पिता भी पूरा सहयोग देते हैं। लेकिन किताब का तीसरा नाटक 'सोच' अपने बच्चों से आदर्श, नैतिकता और सच्चाई के साथ रहने की सीख देता हैं। हलांकि यह नाटक इस बात की तसदीक करता है कि माता—पिता और बच्चों के बीच आज के मौजूं दौर में एक बेहतर समझ का होना बहुत ज़रूरी हैं।

माँ—बाप को एक समय बच्चे बोझ समझनें लगते हैं। बच्चे उन्हें या तो उनके हाल पर छोड़ देते हैं या वृद्धाआश्रम् में भेज देते हैं। आजकल यह चलन बहुतायत हैं। इसी पर आधारित नाटक 'झूठी उम्मीद' केंद्रित हैं। इस नाटक में बेटियाँ अपने माँ बाप का सहारा बनती हैं। और अन्ततः बेटे को धिक्कार और आत्मसम्मान की चोट लगने के बाद अहसास होता है कि हमने भारी भूल की है और वह माँ बाप को वापस ले आता है। नाटक की किताब का रंग रूप आकर्षित नहीं करता। अर्द्ध विराम, अल्प विराम या पूर्ण विराम की कमी के साथ संवादों की भी अशुद्धियाँ हैं। नाटकों के संपादन का दायित्व जिन पर था, उन्हें भविष्य में गलतियों को लेकर सावधान और सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि किताब आप सामाजिकों को अर्पित कर रहे होते हैं। ◆

पता : डी—1/179, विराज खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ—226010

मो. : 9335556115

लघु कथा

कवच

❑ **प्रगति त्रिपाठी**

नीमा के पति का साथ छूटते ही सारे रिश्ते पराए हो गए और सब अपनी—अपनी तरह से उसकी कमान खींचने लगे। कोई कहता अब यहां रहकर क्या करोगी? सास—ससुर की सेवा करो और उनके साथ गांव रहो, रहा बिट्टू तो वहीं सरकारी स्कूल में दाख़िला करा देना।

नीमा बेसुध बैठी, मनोज की यादों में खोई थी। उसे तो अब भी समझ नहीं आ रहा था कि उसके साथ क्या हुआ है। तेरह दिन तक जो विधि—विधान कराया जा रहा था, वो ज़िंदा लाश की तरह किए जा रही थी। मां— बाप भी मजबूर बने सब देख रहे थे। अपनी बेटी की ऐसी दशा उनसे देखी नहीं जा रही थी लेकिन समाज के नियमों के आगे बेबस थे। आज तेरहवीं थी, पुण्य आत्मा की शांति हेतु पूजा—पाठ और दान—धर्म कर दिया गया। धीरे—धीरे रिश्तेदार जाने लगे तभी नीमा के ससुर अपनी पत्नी से बोले, ''तुम लोग भी सामान बांधों, कल सुबह ही हम गांव के लिए निकल जाएंगे। बाद में देखेंगे इस घर का क्या करना है!''

''चलो बहू सामान बांधों अब हम सब एक साथ गांव में ही रहेंगे।''

नीमा अभी भी बेसुध बैठी थी, अब उसके माता—पिता से रहा नहीं गया और नीमा के पिता ने कहा ''ये आप क्या कह रहे हैं समधी जी? नीमा गांव रहेगी तो बिट्टू के भविष्य का क्या होगा? नीमा को मजबूत बनना होगा। आप उसे यही रहने दीजिए।''

''नीमा यहां अकेली कैसे रहेगी?'' नीमा के ससुर ने कहा।

''आप लोग यही आ जाइए और नीमा के साथ रहिए, उसे आप सबकी ज़रूरत है।'' नीमा के पिता ने कहा।

''जी नहीं, हम गांव छोड़कर यहां नहीं रह सकते, नीमा को ही हमारे साथ आना होगा वरना वो यही अकेली रहे।'' नीमा के ससुर ने अपना फैसला सुना दिया।

''वो अकेली नहीं हैं, अगर आप उसका साथ नहीं दे सकते तो हम नीमा के साथ रहेंगे। हमारी बेटी अनाथ नहीं है।'' दोनों ने नीमा और बिट्टू के सर पर हाथ रखते हुए कहा। ◆

पता : बी—222, जीआरसी शुमिक्षा, एम.जे. नगर, चुड़सांद्रा, बैंगलुरू—560099

मो. : 9902188600

सोहनलाल द्विवेदी का खादी गीत

खादी के धागे–धागे में अपनेपन का अभिमान भरा,
माता का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा।
खादी के रेशे–रेशे में अपने भाई का प्यार भरा,
मां–बहनों का सत्कार भरा, बच्चों का मधुर दुलार भरा।
खादी की रजत चंद्रिका जब, आकर तन पर मुस्काती है,
तब नव–जीवन की नई ज्योति अंतस्थल में जग जाती है।
खादी से दीन निहत्यों की उत्तप्त उसांस निकलती है।
जिससे मानव क्या, पत्थर की भी छाती कड़ी पिघलती है।
खादी में कितने ही दलितों के दग्ध हृदय की दाह छिपी,
कितनों की कसक कराह छिपी, कितनों की आहत आह छिपी।
खादी में कितनों ही नंगों–भुखमंगों की है आस छिपी,
कितनों की इसमें भूख छिपी, कितनों की इसमें प्यास छिपी।
खादी तो कोई लड़ने का, है भड़कीला रणगान नहीं,
खादी है तीर–कमान नहीं, खादी है खड्ग–कृपाण नहीं।
खादी को देख–देख तो भी दुश्मन का दिल थहराता है।
खादी का झंडा सत्य, शुभ्र अब सभी ओर फहराता है।
खादी की गंगा जब सिर से पैरों तक बह लहराती है,
जीवन के कोने–कोने की, तब सब कालिख़ धुल जाती है।
खादी का ताज चाँद–सा जब, मस्तक पर चमक दिखाता है,
कितने ही अत्याचार ग्रस्त दीनों के त्रास मिटाता है।
खादी ही भर–भर देश प्रेम का प्याला मधुर पिलायेगी,
खादी ही दे–दे संजीवन, मुर्दों को पुनः जिलायेगी।
खादी ही बढ़, चरणों पर पड़ नुपूर–सी लिपट मना लेगी,
खादी ही भारत से रूठी आज़ादी को घर लायेगी।

◆

सोहनलाल द्विवेदी का 'खादी गीत' जनमानस में गूंज रहा था।
इस प्रभावशाली गीत से अंग्रेज़ी हुकूमत हिल उठी :

भारत सरकार के रजिस्ट्रार आफ न्यूज पेपर्स की रजिस्ट्री संख्या 33122/78
भारतीय डाक विभाग की डाक पंजीयन संख्या–एल.डब्लू./एन.पी. 432/2006

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश

प्रमुख प्रकाशन

उत्तर प्रदेश मासिक	:	समकालीन साहित्य, संस्कृति, कला और विचार की मासिक पत्रिका समूल्य उपलब्ध एक अंक रु. 15/– मात्र, वार्षिक मूल्य रु. 180/– मात्र।
नया दौर (उर्दू)	:	सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विषय की एक उर्दू मासिक पत्रिका, एक अंक रु. 15/– मात्र, वार्षिक मूल्य रु. 180/– मात्र।
वार्षिकी (हिन्दी/अंग्रेजी)	:	उत्तर प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के विस्तृत आंकड़ों एवं सूचनाओं का वार्षिक विवरण मूल्य रु. 325/– मात्र।

महत्वपूर्ण प्रकाशनों के लिए सम्पर्क करें

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उ.प्र.
दीनदयाल उपाध्याय सूचना परिसर, पार्क रोड, लखनऊ
उत्तर प्रदेश के समस्त जिला सूचना कार्यालय

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उ.प्र. स्वत्वाधिकारी के लिए शिशिर, निदेशक, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उ.प्र. लखनऊ द्वारा प्रकाशित तथा प्रकाश पैकेजर्स, लखनऊ में मुद्रित प्र. संपादक – **दिनेश कुमार गुप्ता**